INVENTAIRE
V 26709
27

# ALMANACH

1883

36e ANNÉE

# ASTROLOGIQUE

PRIX 50 Cent

H. EMY.

V
2733
D 6536

DÉPOT CENTRAL DES ALMANACHS PUBLIÉS A PARIS

LIBRAIRIE DE E. PLON ET Cie, RUE GARANCIÈRE, 10

VÉRITABLE

# ÉLIXIR TONIQUE ANTI-GLAIREUX

DU DOCTEUR GUILLIÉ

## PRÉPARÉ PAR PAUL GAGE

**Pharmacien à Paris, 9, rue de Grenelle-Saint-Germain**

SEUL PROPRIÉTAIRE DE CET ÉLIXIR

---

Personne n'ignore aujourd'hui combien sont nombreuses les maladies occasionnées par les glaires : l'**Elixir de Guillié** est reconnu, depuis soixante ans, comme le plus efficace contre ces maladies. Comme purgatif, loin de débiliter, il est tonique en même temps que rafraîchissant ; il donne de la force aux divers organes et n'exige aucune diète.

Il est surtout utile à la classe ouvrière, à laquelle il épargne des frais considérables de maladies et de temps perdu, car, avec l'**Elixir de Guillié**, les guérisons sont promptes.

Depuis plus d'un demi-siecle, la réputation de l'**Elixir de Guillié** s'est étendue dans le monde entier, par les services qu'il rend tous les jours aux médecins et aux malades dans les cas graves et même désespérés.

Répondant aux demandes qui lui ont été adressées de présenter l'**Elixir tonique anti-glaireux** sous une forme facile à prendre et à transporter, M. Paul Gage a préparé, avec un heureux succès, des **Pilules d'extrait d'Elixir anti-glaireux du** Dr Guillié qui contiennent, sous un petit volume, toutes les propriétés toni-purgatives de cet Elixir.

Une brochure, véritable traité de médecine usuelle et domestique, est délivrée gratis avec chaque bouteille d'Elixir ou chaque flacon de Pilules.

Cette brochure est adressée *franco* à ceux qui en font la demande à M. PAUL GAGE.

L'**Elixir de Guillié** se vend en France **3** fr. **50** la demi-bouteille et **6** francs la bouteille. Pour l'étranger, ce prix varie d'après les frais de douane et de transport.

Le prix des Pilules est de 3 fr. 50 le flacon. (Il n'y a qu'une seule grandeur.)

L'Elixir et les Pilules se trouvent dans toutes les bonnes pharmacies de France et de l'étranger, et au Dépôt général, *à Paris, rue de Grenelle-Saint-Germain*, n° 9.

54e AN

AS

PHYSIQ

Magn

Au De

LIBRA

54e ANNÉE. 50 CENTIMES.

# ALMANACH
# ASTROLOGIQUE

*SCIENTIFIQUE, ASTRONOMIQUE,*

PHYSIQUE, SATIRIQUE, ANECDOTIQUE, ETC.

**Magnétisme, Électricité, Locomotion aérienne,**
**Découvertes nouvelles, Progrès, etc.**

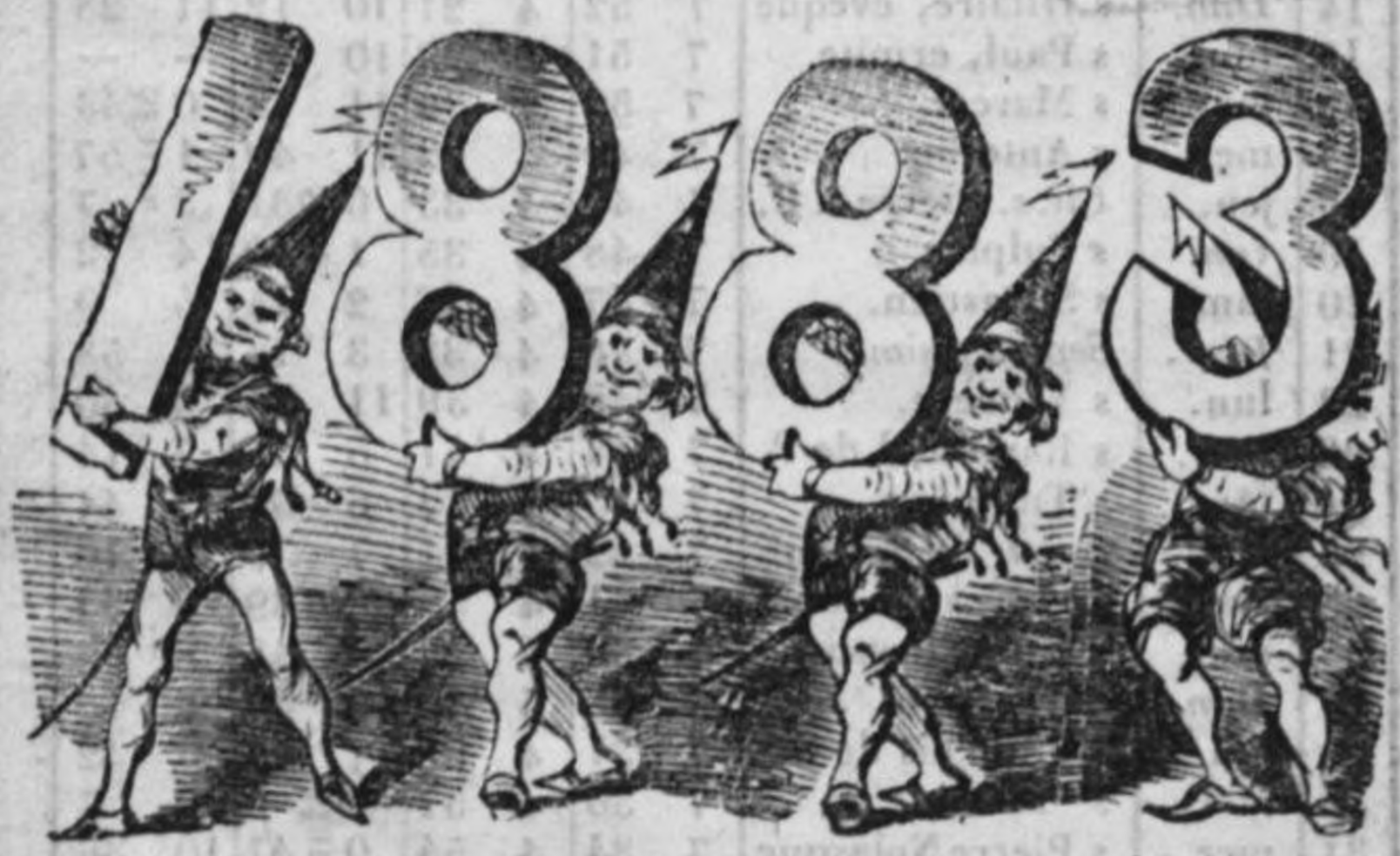


## 60 GRAVURES.

PARIS

**Au Dépôt central des Almanachs**

PUBLIÉS A PARIS

LIBRAIRIE E. PLON ET Cie, RUE GARANCIÈRE, 10

# CALENDRIER POUR 1883.

## JANVIER. ≈≈ *Les jours croissent de* 1 *h.* 6 *m.*

| JOURS. | | FÊTES. | Lever du Soleil. | | Couch. du Soleil. | | Lever de la Lune. | | Couch. de la Lune. | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. | m. | h. | m. | h. | m. | h. | m. |
| 1 | lun. | CIRCONCISION. | 7 | 56 | 4 | 12 | — | — | 11 | Mat. 14 |
| 2 | mar. | s Macaire, abbé. | 7 | 56 | 4 | 13 | 0 | Mat. 56 | 11 | 38 |
| 3 | mer. | ste Geneviève. | 7 | 56 | 4 | 14 | 2 | 0 | 0 | Soir. 5 |
| 4 | jeud. | s Rigobert. | 7 | 56 | 4 | 15 | 3 | 2 | 0 | 37 |
| 5 | ven. | ste Amélie. | 7 | 56 | 4 | 16 | 4 | 5 | 1 | 14 |
| 6 | sam. | EPIPHANIE. | 7 | 55 | 4 | 17 | 5 | 5 | 2 | 0 |
| 7 | *Dim.* | Ste Gudule. | 7 | 55 | 4 | 18 | 6 | 2 | 2 | 54 |
| 8 | lun. | s Lucien. | 7 | 53 | 4 | 20 | 6 | 52 | 3 | 57 |
| 9 | mar. | s Julien. | 7 | 54 | 4 | 21 | 7 | 36 | 5 | 7 |
| 10 | mer. | s Guillaume. | 7 | 54 | 4 | 22 | 8 | 14 | 6 | 21 |
| 11 | jeud. | ste Hortense. | 7 | 53 | 4 | 23 | 8 | 47 | 7 | 38 |
| 12 | ven. | ste Césarine. | 7 | 53 | 4 | 25 | 9 | 17 | 8 | 55 |
| 13 | sam. | *Baptême de N. S.* | 7 | 52 | 4 | 26 | 9 | 45 | 10 | 11 |
| 14 | *Dim.* | s Hilaire, évêque | 7 | 52 | 4 | 27 | 10 | 12 | 11 | 28 |
| 15 | lun. | s Paul, ermite. | 7 | 51 | 4 | 29 | 10 | 41 | — | — |
| 16 | mar. | s Marcel. | 7 | 50 | 4 | 30 | 11 | 13 | 0 | Mat. 43 |
| 17 | mer. | s Antoine. | 7 | 49 | 4 | 32 | 11 | 49 | 1 | 57 |
| 18 | jeu. | Ch. s. Pierre à R. | 7 | 49 | 4 | 33 | 0 | Soir. 31 | 3 | Mat. 7 |
| 19 | ven. | s Sulpice. | 7 | 48 | 4 | 35 | 1 | 10 | 4 | 12 |
| 20 | sam. | s Sébastien. | 7 | 47 | 4 | 36 | 2 | 15 | 5 | 9 |
| 21 | *Dim.* | *Septuagésime.* | 7 | 46 | 4 | 38 | 3 | 16 | 5 | 58 |
| 22 | lun. | s Vincent. | 7 | 45 | 4 | 39 | 11 | 20 | 6 | 40 |
| 23 | mar. | s Raymond de P. | 7 | 44 | 4 | 41 | 5 | 26 | 7 | 14 |
| 24 | mer. | s Timothée. | 7 | 43 | 4 | 42 | 6 | 31 | 7 | 44 |
| 25 | jeud. | Conv de S. Paul. | 7 | 42 | 4 | 44 | 7 | 36 | 8 | 10 |
| 26 | ven. | s Polycarpe, év. | 7 | 41 | 4 | 46 | 8 | 39 | 8 | 33 |
| 27 | sam. | s Jean Chrysost. | 7 | 39 | 4 | 47 | 9 | 41 | 8 | 56 |
| 28 | *Dim.* | *Sexagésime.* | 7 | 38 | 4 | 49 | 10 | 43 | 9 | 18 |
| 29 | lun. | s François de S. | 7 | 37 | 4 | 50 | 11 | 45 | 9 | 42 |
| 30 | mar. | ste Martine. | 7 | 36 | 4 | 52 | — | Mat. — | 10 | 7 |
| 31 | mer. | s Pierre Nolasque | 7 | 34 | 4 | 54 | 0 | Soir. 47 | 10 | 36 |

*Phases de la lune.*

☾ D. Q., le 1er, à 0h 59m soir.
● N. L., le 9, à 6h 09m mat.
☽ P. Q., le 16, à 0h 57m mat.
○ Pl. L., le 23, à 7h 25m mat.
☾ D. Q., le 31, à 10h 36m mat.

*Passage de la lune au méridien.*

Le 2, à 6h 21m du matin.
Le 9, à 0h 18m du soir.
Le 16, à 6h 29m du soir.
Le 24, à 1h 26m du matin.

## FÉVRIER. ♒ *Les jours croissent de* 1 *h.* 33 *m.*

| JOURS. | | FÊTES. | Lever du Soleil. | | Couch. du Soleil. | | Lever de la Lune. | | Couch. de la Lune. | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. | m. | h. | m. | h. | m. | h. | m. |
| 1 | jeud. | s Ignace, év. | 7 | 33 | 4 | 55 | 1 | Matin. 49 | 11 | Mat. 10 |
| 2 | ven. | PURIFICATION. | 7 | 32 | 4 | 57 | 2 | Matin. 49 | 11 | Mat. 1 |
| 3 | sam. | s Blaise. | 7 | 30 | 4 | 59 | 3 | Matin. 46 | 0 | Soir. 40 |
| 4 | *Dim.* | *Quinquagésime.* | 7 | 29 | 5 | 0 | 4 | 39 | 1 | Soir. 37 |
| 5 | lun. | ste Agathe. | 7 | 27 | 5 | 2 | 5 | 26 | 2 | Soir. 43 |
| 6 | mar. | *Mardi Gras.* | 7 | 26 | 5 | 4 | 6 | 8 | 3 | 56 |
| 7 | mer. | CENDRES. | 7 | 24 | 5 | 5 | 6 | 44 | 5 | 13 |
| 8 | jeud. | s Jean de Matha. | 7 | 23 | 5 | 7 | 7 | 16 | 6 | 32 |
| 9 | ven. | ste Apolline. | 7 | 21 | 5 | 9 | 7 | 46 | 7 | 52 |
| 10 | sam. | se Scholastique. | 7 | 19 | 5 | 10 | 8 | 15 | 9 | 11 |
| 11 | *Dim.* | *Quadragésime.* | 7 | 18 | 5 | 12 | 8 | 45 | 10 | 29 |
| 12 | lun. | ste Eulalie. | 7 | 16 | 5 | 14 | 9 | 16 | 11 | 45 |
| 13 | mar. | s Polycucte. | 7 | 14 | 5 | 15 | 9 | 52 | — | — |
| 14 | mer. | s Valentin. *Q. T.* | 7 | 13 | 5 | 17 | 10 | 32 | 0 | Matin. 58 |
| 15 | jeud. | s Faustin. | 7 | 11 | 5 | 19 | 11 | 18 | 2 | Matin. 5 |
| 16 | ven. | ste Julienne. | 7 | 9 | 5 | 20 | 0 | Soir. 11 | 3 | 4 |
| 17 | sam. | ste Martine. | 7 | 8 | 5 | 22 | 1 | Soir. 9 | 3 | 55 |
| 18 | *Dim.* | *Reminiscere.* | 7 | 6 | 5 | 24 | 2 | 11 | 4 | 39 |
| 19 | lun. | s Barbat. | 7 | 4 | 5 | 25 | 3 | 15 | 5 | 15 |
| 20 | mar. | s Eucher. | 7 | 2 | 5 | 27 | 4 | 20 | 5 | 46 |
| 21 | mer. | ste Vitaline. | 7 | 0 | 5 | 28 | 5 | 24 | 6 | 13 |
| 22 | jeud. | La Ch. s. Pierre. | 6 | 58 | 5 | 30 | 6 | 27 | 6 | 37 |
| 23 | ven. | s Pierre Damien. | 6 | 56 | 5 | 32 | 7 | 30 | 7 | 0 |
| 24 | sam. | s Mathias. | 6 | 55 | 5 | 33 | 8 | 32 | 7 | 23 |
| 25 | *Dim.* | *Oculi.* | 6 | 53 | 5 | 35 | 9 | 34 | 7 | 46 |
| 26 | lun. | s Porphyre. | 6 | 51 | 5 | 36 | 10 | 35 | 8 | 11 |
| 27 | mar. | ste Honorine. | 6 | 49 | 5 | 38 | 11 | 36 | 8 | 39 |
| 28 | mer. | s Romain. | 6 | 47 | 5 | 40 | — | — | 9 | 10 |

*Phases de la lune.*

● N. L., le 7, à 6h 20m soir.
☽ P. Q., le 14, à 10h 4m mat.
○ Pl. L., le 22, à 0h 28m mat.

*Passage de la lune au méridien.*

Le 1er, à 6h 31m du matin.
Le 7, à 0h 0m du soir.
Le 14, à 6h 15m du soir.
Le 23, à 0h 49m du matin.

## MARS. ♈ *Les jours croissent de* 1 *h.* 50 *m.*

| JOURS. | | FÊTES. | Lever du Soleil. | | Couch. du Soleil. | | Lever de la Lune. | | Couch. de la Lune. | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. | m. | h. | m. | h. | m. | h. | m. |
| 1 | jeud. | s Aubin. *Mi-C.* | 6 | 45 | 5 | 41 | 0 | 36 | 9 | 47 |
| 2 | ven. | s Simplice. | 6 | 43 | 5 | 43 | 1 | 33 | 10 | 31 |
| 3 | sam. | ste Cunégonde. | 6 | 41 | 5 | 44 | 2 | 26 | 11 | 23 |
| 4 | *Dim.* | *Lætare.* | 6 | 39 | 5 | 46 | 3 | 15 | 0 | 23 |
| 5 | lun. | s Théophile. | 6 | 37 | 5 | 48 | 3 | 59 | 1 | 31 |
| 6 | mar. | ste Colette. | 6 | 35 | 5 | 49 | 4 | 37 | 2 | 45 |
| 7 | mer. | s Thomas d'Aq. | 6 | 33 | 5 | 51 | 5 | 11 | 4 | 2 |
| 8 | jeud. | s Jean de Dieu. | 6 | 31 | 5 | 52 | 5 | 42 | 5 | 22 |
| 9 | ven. | ste Françoise. | 6 | 29 | 5 | 54 | 6 | 12 | 6 | 44 |
| 10 | sam. | s Doctrovée. | 6 | 27 | 5 | 55 | 6 | 43 | 8 | 4 |
| 11 | *Dim.* | La Passion. | 6 | 25 | 5 | 57 | 7 | 15 | 9 | 24 |
| 12 | lun. | s Grégoire le Gr. | 6 | 23 | 5 | 58 | 7 | 50 | 10 | 41 |
| 13 | mar. | ste Euphrasie. | 6 | 20 | 6 | 0 | 8 | 30 | 10 | 53 |
| 14 | mer. | ste Mathilde. | 6 | 18 | 6 | 2 | 9 | 16 | — | — |
| 15 | jeud. | s Zacharie. | 6 | 16 | 6 | 3 | 10 | 8 | 0 | 56 |
| 16 | ven. | s Abraham. | 6 | 14 | 6 | 5 | 11 | 5 | 1 | 51 |
| 17 | sam. | s Patrice. | 6 | 12 | 6 | 6 | 0 | 6 | 2 | 38 |
| 18 | *Dim.* | Les Rameaux. | 6 | 10 | 6 | 8 | 1 | 9 | 3 | 16 |
| 19 | lun. | s Joseph. | 6 | 8 | 6 | 9 | 2 | 13 | 3 | 49 |
| 20 | mar. | s Guibert. | 6 | 6 | 6 | 11 | 3 | 16 | 4 | 17 |
| 21 | mer. | s Benoît. | 6 | 4 | 6 | 12 | 4 | 19 | 4 | 42 |
| 22 | jeud. | ste Léa. | 6 | 2 | 6 | 14 | 5 | 21 | 5 | 5 |
| 23 | ven. | *Vendredi saint.* | 5 | 59 | 6 | 15 | 6 | 23 | 5 | 28 |
| 24 | sam. | s Siméon. | 5 | 57 | 6 | 17 | 7 | 25 | 5 | 51 |
| 25 | *Dim.* | PAQUES. | 5 | 55 | 6 | 18 | 8 | 26 | 6 | 16 |
| 26 | lun. | s Emmanuel. | 5 | 53 | 6 | 20 | 9 | 27 | 6 | 42 |
| 27 | mar. | s Robert. | 5 | 51 | 6 | 21 | 10 | 27 | 7 | 12 |
| 28 | mer. | s Gontran. | 5 | 49 | 6 | 23 | 11 | 25 | 7 | 48 |
| 29 | jeud. | ste Eustasie. | 5 | 47 | 6 | 24 | — | — | 8 | 28 |
| 30 | ven. | s Ricul. | 5 | 45 | 6 | 26 | 0 | 19 | 9 | 16 |
| 31 | sam. | ste Cornélie. | 5 | 43 | 6 | 27 | 1 | 8 | 10 | 12 |

Mauv. Soir. Mauv. Matin.

*Phases de la lune.*

☾ D. Q., le 2, à $5^h\ 35^m$ matin.
● N. L., le 9, à $4^h\ 41^m$ matin.
☽ P. Q., le 15, à $8^h\ 41^m$ soir.
○ Pl. L., le 23, à $6^h\ 14^m$ soir.
☽ D. Q., le 31, à $8^h\ 31^m$ soir.

*Passage de la lune au méridien.*

Le 3, à $6^h\ 54^m$ du matin.
Le 9, à $0^h\ 21^m$ du soir.
Le 15, à $6^h\ 0^m$ du soir.
Le 24, à $0^h\ 11^m$ du matin.

## AVRIL. ♉ *Les jours croissent de* 1 *h.* 43 *m.*

| JOURS. | | FÊTES. | Lever du Soleil. | | Couch. du Soleil. | | Lever de la Lune. | | Couch. de la Lune. | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. | m. | h. | m. | h. | m. | h. | m. |
| 1 | *Dim.* | *Quasimodo.* | 5 | 41 | 6 | 29 | 1 | Matin 52 | 11 | Matin 14 |
| 2 | lun. | *Annonciation.* | 5 | 38 | 6 | 30 | 2 | Matin 31 | 0 | Soir 23 |
| 3 | mar. | ste Marie Égypt. | 5 | 36 | 6 | 31 | 3 | Matin 6 | 1 | Soir 36 |
| 4 | mer. | s Isidore. | 5 | 34 | 6 | 33 | 3 | 38 | 2 | 52 |
| 5 | jeud. | s Vincent Ferrier. | 5 | 32 | 6 | 34 | 4 | 8 | 4 | 11 |
| 6 | ven. | s Célestin. | 5 | 30 | 6 | 36 | 4 | 38 | 5 | 32 |
| 7 | sam. | s Hégésippe. | 5 | 28 | 6 | 37 | 5 | 9 | 6 | 54 |
| 8 | *Dim.* | s Gauthier. | 5 | 26 | 6 | 39 | 5 | 43 | 8 | 14 |
| 9 | lun. | s Hugues. | 5 | 24 | 6 | 40 | 6 | 22 | 9 | 31 |
| 10 | mar. | s Macaire. | 5 | 22 | 6 | 42 | 7 | 7 | 10 | 41 |
| 11 | mer. | s Léon le Grand. | 5 | 20 | 6 | 43 | 7 | 58 | 11 | 42 |
| 12 | jeud. | s Jules. | 5 | 18 | 6 | 45 | 8 | 55 | — | — |
| 13 | ven. | s Herménegilde. | 5 | 16 | 6 | 46 | 9 | 57 | 0 | Matin 33 |
| 14 | sam. | s Tiburce. | 5 | 14 | 6 | 48 | 11 | 1 | 1 | Matin 15 |
| 15 | *Dim.* | ste Anastasie. | 5 | 12 | 6 | 49 | 0 | Soir 5 | 1 | Matin 50 |
| 16 | lun. | s Fructueux. | 5 | 10 | 6 | 51 | 1 | Soir 9 | 2 | 20 |
| 17 | mar. | s Anicet. | 5 | 8 | 6 | 52 | 2 | 12 | 2 | 46 |
| 18 | mer. | s Parfait. | 5 | 6 | 6 | 54 | 3 | 14 | 3 | 10 |
| 19 | jeud. | s Léon. | 5 | 4 | 6 | 55 | 4 | 16 | 3 | 33 |
| 20 | ven. | ste Emma. | 5 | 2 | 6 | 57 | 5 | 17 | 3 | 56 |
| 21 | sam. | s Anselme. | 5 | 0 | 6 | 58 | 6 | 19 | 4 | 20 |
| 22 | *Dim.* | ss Soter et Caïus. | 4 | 58 | 7 | 0 | 7 | 20 | 4 | 46 |
| 23 | lun. | s Georges. | 4 | 57 | 7 | 1 | 8 | 21 | 5 | 15 |
| 24 | mar. | s Fidèle. | 4 | 55 | 7 | 3 | 9 | 19 | 5 | 49 |
| 25 | mer. | s Marc, évangél. | 4 | 53 | 7 | 4 | 10 | 15 | 6 | 28 |
| 26 | jeud. | s Clet. | 4 | 51 | 7 | 6 | 11 | 5 | 7 | 13 |
| 27 | ven. | s Anthime. | 4 | 49 | 7 | 7 | 11 | 50 | 8 | 6 |
| 28 | sam. | s Paul de la Cr. | 4 | 48 | 7 | 8 | — | — | 9 | 5 |
| 29 | *Dim.* | s Pierre Martyr. | 4 | 46 | 7 | 10 | 0 | Matin 30 | 10 | 10 |
| 30 | lun. | *Rogations.* | 4 | 44 | 7 | 11 | 1 | Matin 5 | 11 | 20 |

| *Phases de la lune.* | *Passage de la lune au méridien.* |
|---|---|
| ● N. L., le 7, à 1h 46m soir. | Le 1er, à 6h 31m du matin. |
| ◑ P. Q., le 14, à 8h 59m mat. | Le 7, à 0h 0m du soir. |
| ○ Pl. L., le 22, à 11h 37m mat. | Le 14, à 6h 30m du soir. |
| ◐ D. Q., le 30, à 7h 13m mat. | Le 23, à 0h 20m du matin. |

## MAI. ♓ *Les jours croissent de* 1 *h.* 18 *m.*

| JOURS. | | FÊTES. | Lever du Soleil. | | Couch. du Soleil. | | Lever de la Lune. | | Couch. de la Lune. | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. | m. | h. | m. | h. | m. | h. | m. |
| 1 | mar. | ss Philippe et J. | 4 | 42 | 7 | 13 | 1 | Mat. 37 | 0 | Soir. 32 |
| 2 | mer. | s Athanase. | 4 | 41 | 7 | 14 | 2 | 6 | 1 | 47 |
| 3 | jeud. | ASCENSION. | 4 | 39 | 7 | 16 | 2 | 35 | 3 | 4 |
| 4 | ven. | ste Monique. | 4 | 37 | 7 | 17 | 3 | 5 | 4 | 24 |
| 5 | sam. | s Pie V. | 4 | 36 | 7 | 19 | 3 | 37 | 5 | 44 |
| 6 | *Dim.* | s Jean Porte Lat. | 4 | 34 | 7 | 20 | 4 | 13 | 7 | 3 |
| 7 | lun. | s Stanislas. | 4 | 32 | 7 | 21 | 4 | 54 | 8 | 17 |
| 8 | mar. | s Désiré. | 4 | 31 | 7 | 23 | 5 | 43 | 9 | 25 |
| 9 | mer. | s Grégoire de N. | 4 | 29 | 7 | 24 | 6 | 39 | 10 | 22 |
| 10 | jeud. | s Antonin. | 4 | 28 | 7 | 26 | 7 | 40 | 11 | 9 |
| 11 | ven. | ss Achille et Nér. | 4 | 26 | 7 | 27 | 8 | 46 | 11 | 49 |
| 12 | sam. | ste Flavie. | 4 | 25 | 7 | 28 | 9 | 52 | — | — |
| 13 | *Dim.* | PENTECOTE | 4 | 24 | 7 | 30 | 10 | 58 | 0 | Mat. 21 |
| 14 | lun. | s Pacôme. | 4 | 22 | 7 | 31 | 0 | Soir. 2 | 0 | 49 |
| 15 | mar. | s Cassius. | 4 | 21 | 7 | 32 | 1 | 5 | 1 | 14 |
| 16 | mer. | s Honoré. *Q. T.* | 4 | 20 | 7 | 34 | 2 | 7 | 1 | 38 |
| 17 | jeud. | s Pascal. | 4 | 18 | 7 | 35 | 3 | 9 | 2 | 0 |
| 18 | ven. | s Venant. | 4 | 17 | 7 | 36 | 4 | 10 | 2 | 29 |
| 19 | sam. | ste Pudentienne. | 4 | 16 | 7 | 38 | 5 | 12 | 2 | 49 |
| 20 | *Dim.* | TRINITÉ. | 4 | 15 | 7 | 39 | 6 | 13 | 3 | 17 |
| 21 | lun. | ste Virginie. | 4 | 13 | 7 | 40 | 7 | 13 | 3 | 49 |
| 22 | mar. | ste Julie. | 4 | 12 | 7 | 41 | 8 | 10 | 4 | 27 |
| 23 | mer. | s Didier. | 4 | 11 | 7 | 42 | 9 | 3 | 5 | 10 |
| 24 | jeud. | FÊTE-DIEU. | 4 | 10 | 7 | 44 | 9 | 50 | 6 | 1 |
| 25 | ven. | s Urbain. | 4 | 9 | 7 | 45 | 10 | 31 | 6 | 59 |
| 26 | sam. | s Philip. de Néri. | 4 | 8 | 7 | 46 | 11 | 8 | 8 | 3 |
| 27 | *Dim.* | ste M.-Mad. de P. | 4 | 7 | 7 | 47 | 11 | 40 | 9 | 10 |
| 28 | lun. | s Germain. | 4 | 7 | 7 | 48 | — | — | 10 | 21 |
| 29 | mar. | s Maximin. | 4 | 6 | 7 | 49 | 0 | Mat. 10 | 11 | 33 |
| 30 | mer. | s Félix, pape. | 4 | 5 | 7 | 50 | 0 | 38 | 0 | Soir. 47 |
| 31 | jeud. | ste Angèle de M. | 4 | 4 | 7 | 51 | 1 | 5 | 2 | 3 |

*Phases de la lune.*

- ● N. L., le 6, à 10h 8m soir.
- ☽ P. Q., le 13, à 11h 3m soir.
- ○ P. L., le 22, à 3h 21m mat.
- ☾ D. Q., le 29, à 2h 32m soir.

*Passage de la lune au méridien.*

Le 1er, à 6h 59m du matin.
Le 6, à 0h 0m du soir.
Le 13, à 5h 59m du soir.
Le 23, à 0h 40m du matin.
Le 30, à 6h 36m du matin.

## JUIN. 69 *Les jours croissent de 20 m.*

| JOURS. | | FÊTES. | Lever du Soleil. | | Couch. du Soleil. | | Lever de la Lune. | | Couch. de la Lune. | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. | m. | h. | m. | h. | m. | h. | m. |
| 1 | ven. | *Fête du S.-Cœur.* | 4 | 3 | 7 | 52 | 1 | Matin 35 | 3 | Soir. 20 |
| 2 | sam. | s Marcellin. | 4 | 3 | 7 | 53 | 2 | 8 | 4 | 37 |
| 3 | *Dim.* | ste Clotilde. | 4 | 2 | 7 | 54 | 2 | 45 | 5 | 53 |
| 4 | lun. | s François C. | 4 | 1 | 7 | 55 | 3 | 29 | 7 | 4 |
| 5 | mar. | s Boniface. | 4 | 1 | 7 | 56 | 4 | 21 | 8 | 7 |
| 6 | mer. | s Norbert. | 4 | 0 | 7 | 57 | 5 | 21 | 9 | 0 |
| 7 | jeud. | s Claude. | 4 | 0 | 7 | 58 | 6 | 25 | 9 | 44 |
| 8 | ven. | s Médard. | 4 | 0 | 7 | 58 | 7 | 33 | 10 | 20 |
| 9 | sam. | s Félicien. | 3 | 59 | 7 | 59 | 8 | 41 | 10 | 51 |
| 10 | *Dim.* | s Landry. | 3 | 59 | 8 | 0 | 9 | 47 | 11 | 17 |
| 11 | lun. | s Barnabé. | 3 | 59 | 8 | 0 | 10 | 52 | 11 | 42 |
| 12 | mar. | s Nabor. | 3 | 58 | 8 | 1 | 11 | 55 | — | — |
| 13 | mer. | s Antoine de Pad. | 3 | 58 | 8 | 2 | 0 | Soir. 57 | 0 | Matin 5 |
| 14 | jeud. | s Basile. | 3 | 58 | 8 | 2 | 1 | 59 | 0 | 28 |
| 15 | ven. | ste Germaine C. | 3 | 58 | 8 | 3 | 3 | 0 | 0 | 52 |
| 16 | sam. | s J. Franç. Régis. | 3 | 58 | 8 | 3 | 4 | 2 | 1 | 19 |
| 17 | *Dim.* | s Aurélien. | 3 | 58 | 8 | 4 | 5 | 2 | 1 | 49 |
| 18 | lun. | ste Marine. | 3 | 58 | 8 | 4 | 6 | 1 | 2 | 24 |
| 19 | mar. | s Gervais, s Prot. | 3 | 58 | 8 | 4 | 6 | 56 | 3 | 6 |
| 20 | mer. | s Sylvère. | 3 | 58 | 8 | 4 | 7 | 47 | 3 | 54 |
| 21 | jeud. | s Louis de Gonz. | 3 | 58 | 8 | 5 | 8 | 31 | 4 | 51 |
| 22 | ven. | s Paulin. | 3 | 58 | 8 | 5 | 9 | 10 | 5 | 53 |
| 23 | sam. | ste Ethelrède. | 3 | 59 | 8 | 5 | 9 | 44 | 7 | 0 |
| 24 | *Dim.* | *Nativ. de S. J.-B.* | 3 | 59 | 8 | 5 | 10 | 15 | 8 | 11 |
| 25 | lun. | s Guillaume, ab. | 3 | 59 | 8 | 5 | 10 | 43 | 9 | 23 |
| 26 | mar. | ss Jean et Paul. | 4 | 0 | 8 | 5 | 11 | 11 | 10 | 37 |
| 27 | mer. | s Ladislas. | 4 | 0 | 8 | 5 | 11 | 39 | 11 | 51 |
| 28 | jeud. | s Irénée. | 4 | 0 | 8 | 5 | — | — | 1 | Soir. 6 |
| 29 | ven. | *s Pierre et s Paul.* | 4 | 1 | 8 | 5 | 0 | Matin 9 | 2 | 21 |
| 30 | sam. | Comm. de s Paul. | 4 | 2 | 8 | 5 | 0 | 44 | 3 | 55 |

| *Phases de la lune.* | *Passage de la lune au méridien.* |
|---|---|
| ● N. L., le 5, à 6h 22m matin. | Le 4, à 11h 13m du matin. |
| ☽ P. Q., le 12, à 2h 51m soir. | Le 12, à 6h 4m du soir. |
| ○ Pl. L., le 20, à 4h 41m soir. | Le 21, à 0h 17m du soir. |
| ☾ D. Q., le 27, à 7h 47m soir. | Le 28, à 12h 16m du soir. |

## JUILLET. ♌ *Les jours diminuent de 1 h.*

| JOURS. | | FÊTES. | Lever du Soleil. | | Couch. du Soleil. | | Lever de la Lune. | | Couch. de la Lune. | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. | m | h. | m | h. | m. | h. | m |
| 1 | *Dim.* | s Thierry. | 4 | 2 | 8 | 5 | 1 | ☽ 24 | 4 | ☾ 46 |
| 2 | lun. | *Visitat. de N. D.* | 4 | 3 | 8 | 4 | 2 | Rien. | 5 | Soir. 52 |
| 3 | mar. | s Anatole. | 4 | 3 | 8 | 4 | 3 | 5 | 6 | 48 |
| 4 | mer. | ste Berthe. | 4 | 4 | 8 | 4 | 4 | 7 | 7 | 37 |
| 5 | jeud. | ste Zoé. | 4 | 5 | 8 | 3 | 5 | 13 | 8 | 17 |
| 6 | ven. | s Tranquille. | 4 | 6 | 8 | 3 | 6 | 21 | 8 | 50 |
| 7 | sam. | s Procope. | 4 | 6 | 8 | 2 | 7 | 29 | 9 | 19 |
| 8 | *Dim.* | ste Elisabeth, reine | 4 | 7 | 8 | 2 | 8 | 35 | 9 | 44 |
| 9 | lun. | s Ephrem. | 4 | 8 | 8 | 1 | 9 | 40 | 10 | 8 |
| 10 | mar. | ste Félicité. | 4 | 9 | 8 | 1 | 10 | 43 | 10 | 32 |
| 11 | mer. | s Pie Ier. | 4 | 10 | 8 | 0 | 11 | 46 | 10 | 56 |
| 12 | jeud. | s Jean Gualbert. | 4 | 11 | 7 | 59 | 0 | ☾ 47 | 11 | 21 |
| 13 | ven. | s Eugène. | 4 | 12 | 7 | 59 | 1 | Soir. 49 | 11 | 50 |
| 14 | sam. | s Bonaventure. | 4 | 13 | 7 | 58 | 2 | 49 | — | — |
| 15 | *Dim.* | s Henri. | 4 | 14 | 7 | 57 | 3 | 49 | 0 | ☽ 23 |
| 16 | lun. | N. D. du Carmel. | 4 | 15 | 7 | 56 | 4 | 46 | 1 | Matin. 1 |
| 17 | mar. | s Alexis. | 4 | 16 | 7 | 55 | 5 | 38 | 1 | 46 |
| 18 | mer. | s Camille. | 4 | 17 | 7 | 54 | 6 | 26 | 2 | 39 |
| 19 | jeud. | s Vincent de Paul | 4 | 18 | 7 | 53 | 7 | 8 | 3 | 40 |
| 20 | ven. | ste Marguerite. | 4 | 19 | 7 | 52 | 7 | 45 | 4 | 46 |
| 21 | sam. | s Victor. | 4 | 20 | 7 | 51 | 8 | 17 | 5 | 57 |
| 22 | *Dim.* | ste Madeleine | 4 | 21 | 7 | 50 | 8 | 47 | 7 | 10 |
| 23 | lun. | s Apollinaire. | 4 | 23 | 7 | 49 | 9 | 16 | 8 | 25 |
| 24 | mar. | ste Christine, v. | 4 | 24 | 7 | 48 | 9 | 44 | 9 | 40 |
| 25 | mer. | s Jacques le Maj. | 4 | 25 | 7 | 47 | 10 | 14 | 10 | 55 |
| 26 | jeud. | ste Anne. | 4 | 26 | 7 | 45 | 10 | 47 | 0 | ☾ 10 |
| 27 | ven. | s Pantaléon. | 4 | 28 | 7 | 44 | 11 | 24 | 1 | Soir. 24 |
| 28 | sam. | s Nazaire. | 4 | 29 | 7 | 43 | — | — | 2 | 35 |
| 29 | *Dim.* | ste Marthe. | 4 | 30 | 7 | 41 | 0 | Matin. 8 | 3 | 41 |
| 30 | lun. | s Ignace de L. | 4 | 31 | 7 | 40 | 0 | 58 | 4 | 40 |
| 31 | mar. | s Germain d'Aux | 4 | 33 | 7 | 39 | 1 | 55 | 5 | 31 |

*Phases de la lune.*

- ● N. L., le 4, à 3h 13m soir.
- ☽ P. Q., le 12, à 7h 59m mat.
- ○ Pl. L., le 20, à 3h 40m mat.
- ☾ D. Q., le 27, à 0h 23m mat.

*Passage de la lune au méridien.*

Le 4, à 0h 6m du soir.
Le 12, à 6h 8m du soir.
Le 21, à 0h 46m du matin.
Le 28, à 6h 55m du matin.

## AOUT. ηιρ *Les jours diminuent de* 1 *h.* 38 *m.*

| JOURS. | | FÊTES. | Lever du Soleil. | Couch. du Soleil. | Lever de la Lune. | Couch de la Lune. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. m. | h. m. | h. m. | h. m. |
| 1 | mer. | s Pierre ès liens. | 4 34 | 7 37 | 2 58 | 6 13 |
| 2 | jeud. | s Alphonse. | 4 35 | 7 36 | 4 5 | 6 49 |
| 3 | ven. | Inv. s Etienne. | 4 37 | 7 34 | 5 12 | 7 20 |
| 4 | sam. | s Dominique. | 4 38 | 7 33 | 6 19 | 7 47 |
| 5 | *Dim.* | *N. D. des Neiges.* | 4 39 | 7 31 | 7 25 | 8 12 |
| 6 | lun. | Transfig. de J. C. | 4 41 | 7 30 | 8 29 | 8 36 |
| 7 | mar. | s Gaëtan. | 4 42 | 7 28 | 9 31 | 8 59 |
| 8 | mer. | s Cyriaque. | 4 44 | 7 26 | 10 34 | 9 25 |
| 9 | jeud. | s Justin. | 4 45 | 7 25 | 11 35 | 9 52 |
| 10 | ven. | s Laurent. | 4 46 | 7 23 | 0 36 | 10 22 |
| 11 | sam. | ste Susanne. | 4 48 | 7 22 | 1 35 | 10 58 |
| 12 | *Dim.* | ste Claire. | 4 49 | 7 20 | 2 33 | 11 39 |
| 13 | lun. | s Hippolyte. | 4 50 | 7 18 | 3 27 | — — |
| 14 | mar. | s Eusebe. *V. j.* | 4 52 | 7 16 | 4 16 | 0 28 |
| 15 | mer. | ASSOMPTION. | 4 53 | 7 14 | 5 1 | 1 24 |
| 16 | jeud. | s Roch. | 4 55 | 7 13 | 5 40 | 2 28 |
| 17 | ven. | s Mammès. | 4 56 | 7 11 | 6 15 | 3 37 |
| 18 | sam. | ste Hélène. | 4 58 | 7 9 | 6 47 | 4 50 |
| 19 | *Dim* | s Joachim. | 4 59 | 7 7 | 7 17 | 6 16 |
| 20 | lun. | s Bernard. | 5 0 | 7 5 | 7 47 | 7 23 |
| 21 | mar. | ste Jeanne Chant. | 5 2 | 7 3 | 8 17 | 8 40 |
| 22 | mer. | s Symphorien. | 5 3 | 7 2 | 8 50 | 9 57 |
| 23 | jeud. | s Philippe Benit. | 5 5 | 7 0 | 9 26 | 11 13 |
| 24 | ven. | s Barthélemy. | 5 6 | 6 58 | 10 8 | 0 26 |
| 25 | sam. | s Louis, roi. | 5 7 | 6 56 | 10 56 | 1 34 |
| 26 | *Dim.* | s Zéphyrin. | 5 9 | 6 54 | 11 51 | 2 34 |
| 27 | lun. | s Joseph Calasanz | 5 10 | 6 52 | — — | 3 27 |
| 28 | mar. | s Augustin. | 5 12 | 6 50 | 0 51 | 4 11 |
| 29 | mer. | Déc. de s. J. B. | 5 13 | 6 48 | 1 55 | 4 49 |
| 30 | jeud. | ste Rose de Lima. | 5 14 | 6 46 | 3 1 | 5 21 |
| 31 | ven. | s Raymond Non. | 5 16 | 6 44 | 4 7 | 5 49 |

| *Phases de la lune.* | *Passage de la lune au méridien.* |
|---|---|
| ● N. L., le 3, à 1h 36m mat. | Le 3, à 0h 21m du soir. |
| ◑ P. Q., le 11, à 1h 39m mat. | Le 11, à 6h 18m du soir. |
| ○ P. L., le 18, à 1h 3m soir. | Le 19, à 0h 21m du matin. |
| ◐ D. Q., le 25, à 5h 41m mat. | Le 26, à 6h 44m du matin. |

## SEPTEMBRE. ♎ *Les jours diminuent de 1 h. 44 m.*

| JOURS. | | FÊTES. | Lever du Soleil. | | Couch. du Soleil. | | Lever de la Lune. | | Couch. de la Lune. | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. | m. | h. | m. | h. | m. | h. | m. |
| 1 | sam. | s Leu et s Gilles. | 5 | 17 | 6 | 42 | 5 | ♌ 12 | 6 | ♍ 15 |
| 2 | *Dim.* | s Etienne, roi. | 5 | 19 | 6 | 40 | 6 | 16 | 6 | 39 |
| 3 | lun. | s Lazare. | 5 | 20 | 6 | 38 | 7 | 20 | 7 | 3 |
| 4 | mar. | ste Rosalie. | 5 | 22 | 6 | 36 | 8 | 22 | 7 | 28 |
| 5 | mer. | s Laurent Justin. | 5 | 23 | 6 | 34 | 9 | 23 | 7 | 55 |
| 6 | jeud. | ste Reine. | 5 | 24 | 6 | 31 | 10 | 24 | 8 | 24 |
| 7 | ven. | s Cloud. | 5 | 26 | 6 | 29 | 11 | 24 | 8 | 57 |
| 8 | sam. | *Nativité de N. D.* | 5 | 27 | 6 | 27 | 0 | ♎ 21 | 9 | 35 |
| 9 | *Dim.* | s Omer, év. | 5 | 29 | 6 | 25 | 1 | 16 | 10 | 20 |
| 10 | lun. | s Nicolas Tolent. | 5 | 30 | 6 | 23 | 2 | 6 | 11 | 11 |
| 11 | mar. | s Hyacinthe. | 5 | 31 | 6 | 21 | 2 | 52 | — | — |
| 12 | mer. | ste Pulchérie. | 5 | 33 | 6 | 19 | 3 | 33 | 0 | ♏ 10 |
| 13 | jeud. | s Aimé. | 5 | 34 | 6 | 17 | 4 | 10 | 1 | 15 |
| 14 | ven. | *Exalt. de la Croix.* | 5 | 36 | 6 | 15 | 4 | 43 | 2 | 26 |
| 15 | sam. | s Nicomède. | 5 | 37 | 6 | 12 | 5 | 14 | 3 | 40 |
| 16 | *Dim.* | ss Corn. et Cyp. | 5 | 39 | 6 | 10 | 5 | 45 | 4 | 57 |
| 17 | lun. | Stigm. de s. F. | 5 | 40 | 6 | 8 | 6 | 15 | 6 | 16 |
| 18 | mar. | s Joseph Copert. | 5 | 41 | 6 | 6 | 6 | 48 | 7 | 35 |
| 19 | mer. | s Janvier. *Q. T.* | 5 | 43 | 6 | 4 | 7 | 25 | 8 | 54 |
| 20 | jeud. | s Eustache. | 5 | 44 | 6 | 2 | 8 | 6 | 10 | 11 |
| 21 | ven. | s Matthieu. | 5 | 46 | 6 | 0 | 8 | 53 | 11 | 23 |
| 22 | sam. | s Maurice. | 5 | 47 | 5 | 58 | 9 | 47 | 0 | ♐ 27 |
| 23 | *Dim.* | ste Thècle. | 5 | 49 | 5 | 55 | 10 | 46 | 1 | 23 |
| 24 | lun. | *N. D. de la Merci.* | 5 | 50 | 5 | 53 | 11 | 49 | 2 | 10 |
| 25 | mar. | s Firmin. | 5 | 51 | 5 | 51 | — | — | 2 | 50 |
| 26 | mer. | ste Justine. | 5 | 53 | 5 | 49 | 0 | ♑ 53 | 3 | 23 |
| 27 | jeud. | ss Côme et Dam. | 5 | 54 | 5 | 47 | 1 | 59 | 3 | 53 |
| 28 | ven. | s Wenceslas. | 5 | 56 | 5 | 45 | 3 | 4 | 4 | 19 |
| 29 | sam. | s Michel, arch. | 5 | 57 | 5 | 43 | 4 | 7 | 4 | 44 |
| 30 | *Dim.* | s Jérôme. | 5 | 59 | 5 | 41 | 5 | 11 | 5 | 8 |

| *Phases de la lune.* | *Passage de la lune au méridien.* |
|---|---|
| ● N. L., le 1, à 2h 23m soir. | Le 1er, à 0h 0m du soir. |
| ☽ P. Q., le 9, à 6h 47m soir. | Le 9, à 5h 47m du soir. |
| ○ Pl. L., le 16, à 9h 51m soir. | Le 16, à 11h 54m du soir. |
| ☾ D. Q., le 23, à 1h 0m soir. | Le 24, à 6h 31m du matin. |

## CALENDRIER POUR 1883.

### OCTOBRE. m *Les jours diminuent de 1 h. 45 m.*

| JOURS. | | FÊTES. | Lever du Soleil. | Couch. du Soleil. | Lever de la Lune. | Couch de la Lune. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. m. | h. m. | h. m | h. m. |
| 1 | lun. | s Remi. | 6 0 | 5 38 | 6 ♌ 13 | 5 ♍ 32 |
| 2 | mar. | SS Angesgard. | 6 2 | 5 36 | 7 ♌ 14 | 5 ♍ 59 |
| 3 | mer. | s Denis l'Aréop. | 6 3 | 5 34 | 8 ♌ 15 | 6 26 |
| 4 | jeud. | s François d'As. | 6 5 | 5 32 | 9 15 | 6 58 |
| 5 | ven. | s Placide. | 6 6 | 5 30 | 10 13 | 7 34 |
| 6 | sam. | s Bruno. | 6 8 | 5 28 | 11 8 | 8 16 |
| 7 | *Dim.* | s Serge, ste Bacq. | 6 9 | 5 26 | 11 59 | 9 4 |
| 8 | lun. | ste Brigitte. | 6 11 | 5 24 | 0 ♍ 46 | 9 58 |
| 9 | mar. | s Denis, év. | 6 12 | 5 22 | 1 ♍ 28 | 10 59 |
| 10 | mer. | s François Borgia | 6 14 | 5 20 | 2 5 | — — |
| 11 | jeud. | s Nicaise. | 6 15 | 5 18 | 2 39 | 0 Matin. 5 |
| 12 | ven. | s Vilfrid. | 6 17 | 5 16 | 3 10 | 1 15 |
| 13 | sam. | s Édouard. | 6 18 | 5 14 | 3 40 | 2 29 |
| 14 | *Dim.* | s Calixte. | 6 20 | 5 12 | 4 11 | 3 46 |
| 15 | lun. | ste Thérèse. | 6 21 | 5 10 | 4 48 | 5 5 |
| 16 | mar. | s Léopold. | 6 23 | 5 8 | 5 18 | 6 25 |
| 17 | mer. | ste Hedwige. | 6 24 | 5 6 | 5 57 | 7 45 |
| 18 | jeud. | s Luc, évang. | 6 26 | 5 4 | 6 44 | 9 2 |
| 19 | ven. | s Pierre d'Alcan. | 6 27 | 5 2 | 7 37 | 10 13 |
| 20 | sam. | s Jean Cantius. | 6 29 | 5 0 | 8 36 | 11 14 |
| 21 | *Dim.* | ste Ursule. | 6 31 | 4 58 | 9 40 | 0 Soir. 6 |
| 22 | lun. | s Mellon. | 6 32 | 4 56 | 10 45 | 0 50 |
| 23 | mar. | s Rédempteur. | 6 34 | 4 55 | 11 51 | 1 26 |
| 24 | mer. | s Raphaël. | 6 35 | 4 53 | — — | 1 56 |
| 25 | jeud. | s Crépin, s Crép. | 6 37 | 4 51 | 0 ♎ 56 | 2 23 |
| 26 | ven. | s Évariste. | 6 38 | 4 49 | 2 Matin. 0 | 2 48 |
| 27 | sam. | s Frumence. | 6 40 | 4 47 | 3 3 | 3 12 |
| 28 | *Dim.* | s Simon, s Jude. | 6 42 | 4 46 | 4 5 | 3 36 |
| 29 | lun. | s Narcisse. | 6 43 | 4 44 | 5 6 | 4 2 |
| 30 | mar. | s Lucain. | 6 45 | 4 42 | 6 8 | 4 29 |
| 31 | mer. | s Quentin. *V. j.* | 6 46 | 4 41 | 7 8 | 4 59 |

| *Phases de la lune.* | *Passage de la lune au méridien.* |
|---|---|
| ● N. L., le 1, à 6h 4m mat. | Le 1, à 0h 0m du soir. |
| ◑ P. Q., le 9, à 10h 29m mat. | Le 9, à 6h 10m du soir. |
| ○ Pl. L., le 16, à 6h 55m mat. | Le 17, à 0h 25m du matin. |
| ◐ D. Q., le 22, à 11h 28m soir. | Le 23, à 6h 10m du matin. |
| ● N. L., le 31, à 0h 6m du mat. | Le 31, à 0h 6m du soir. |

## NOVEMBRE. ↦ *Les jours diminuent de 1 h. 20 m.*

| JOURS. | | FÊTES. | Lever du Soleil. | Couch. du Soleil. | Lever de la Lune. | Couch. de la Lune. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. m. | h. m. | h. m. | h. m. |
| 1 | jeud. | TOUSSAINT. | 6 48 | 4 39 | 8 Matin 6 | 5 Soir 34 |
| 2 | ven. | Les *Trépassés.* | 6 50 | 4 37 | 9 3 | 6 14 |
| 3 | sam. | s Marcel. | 6 51 | 4 36 | 9 55 | 7 0 |
| 4 | *Dim.* | s Charles Borr. | 6 53 | 4 34 | 10 43 | 7 52 |
| 5 | lun. | ste Bertilde. | 6 54 | 4 32 | 11 26 | 8 49 |
| 6 | mar. | s Léonard. | 6 56 | 4 31 | 0 Soir 4 | 9 52 |
| 7 | mer. | s Ernest. | 6 58 | 4 29 | 0 38 | 10 58 |
| 8 | jeud. | Les 4 Couronnés. | 6 59 | 4 28 | 1 9 | — — |
| 9 | ven. | s Théodore. | 7 1 | 4 26 | 1 39 | 0 Matin 8 |
| 10 | sam. | s André Avellin. | 7 2 | 4 25 | 2 8 | 1 20 |
| 11 | *Dim.* | s Martin. | 7 4 | 4 24 | 2 37 | 2 36 |
| 12 | lun. | s René, év. | 7 6 | 4 22 | 3 10 | 3 54 |
| 13 | mar. | s Didace. | 7 7 | 4 21 | 3 47 | 5 13 |
| 14 | mer. | s Stanislas Kotska. | 7 9 | 4 20 | 4 29 | 6 32 |
| 15 | jeud. | ste Gertrude. | 7 10 | 4 19 | 5 20 | 7 48 |
| 16 | ven. | s Edmond. | 7 12 | 4 17 | 6 18 | 8 56 |
| 17 | sam. | s Grégoire Thau. | 7 14 | 4 16 | 7 22 | 9 55 |
| 18 | *Dim.* | s Eudes. | 7 15 | 4 15 | 8 29 | 10 43 |
| 19 | lun. | ste Elisabeth. | 7 17 | 4 14 | 9 38 | 11 2 |
| 20 | mar. | s Félix de Valois. | 7 18 | 4 13 | 10 45 | 11 58 |
| 21 | mer. | *Présent. de N. D.* | 7 20 | 4 12 | 11 51 | 0 Soir 27 |
| 22 | jeud. | ste Cécile. | 7 21 | 4 11 | — — | 0 53 |
| 23 | ven. | s Clément. | 7 23 | 4 10 | 0 Soir 54 | 1 17 |
| 24 | sam. | s Jean de la Cr. | 7 24 | 4 9 | 1 57 | 1 41 |
| 25 | *Dim.* | ste Catherine. | 7 26 | 4 8 | 2 59 | 2 6 |
| 26 | lun. | ste Genev. des Ar. | 7 27 | 4 8 | 3 59 | 2 32 |
| 27 | mar. | s Maxime. | 7 28 | 4 7 | 5 0 | 3 1 |
| 28 | mer. | s Sosthène. | 7 30 | 4 6 | 5 59 | 3 34 |
| 29 | jeud. | s Saturnin. | 7 31 | 4 5 | 6 57 | 4 13 |
| 30 | ven. | s André. | 7 32 | 4 5 | 9 52 | 4 57 |

| *Phases de la lune.* | *Passage de la lune au méridien.* |
|---|---|
| ☽ P. Q., le 8, à 0h 14m mat. | Le 8, à 6h 34m du soir. |
| ○ Pl. L., le 14, à 4h 47m soir. | Le 15, à 0h 4m du matin. |
| ☾ D. Q., le 21, à 1h 53m soir. | Le 22, à 6h 27m du matin. |
| ● N. L., le 29, à 7h 4m soir. | Le 29, à 0h 0m du soir. |

## DÉCEMBRE. ♑ *Les jours diminuent de 27 m.*

| JOURS. ● | | FÊTES. | Lever du Soleil. | Couch. du Soleil. | Lever de la Lune. | Couch. de la Lune. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | h. m. | h. m. | h. m. | h. m. |
| 1 | sam. | s Éloi. | 7 34 | 4 4 | 8 Matin. 41 | 5 Soir. 47 |
| 2 | *Dim.* | AVENT. | 7 35 | 4 4 | 9 26 | 6 43 |
| 3 | lun. | s François Xavier | 7 36 | 4 3 | 10 6 | 7 44 |
| 4 | mar. | ste Barbe. | 7 38 | 4 3 | 10 41 | 8 49 |
| 5 | mer. | s Sabas, abbé. | 7 39 | 4 2 | 11 13 | 9 56 |
| 6 | jeud. | s Nicolas. | 7 40 | 4 2 | 11 42 | 11 6 |
| 7 | ven. | s Ambroise. | 7 41 | 4 2 | 0 Soir. 9 | — — |
| 8 | sam. | *Conception.* | 7 42 | 4 2 | 0 38 | 0 Matin. 17 |
| 9 | *Dim.* | ste Léocadie. | 7 43 | 4 2 | 1 7 | 1 31 |
| 10 | lun. | *N. D. de Lorette.* | 7 44 | 4 1 | 1 41 | 2 47 |
| 11 | mar. | s Damase. | 7 45 | 4 1 | 2 19 | 4 4 |
| 12 | mer. | s Valery. | 7 46 | 4 1 | 3 4 | 5 20 |
| 13 | jeud. | ste Lucie. | 7 47 | 4 1 | 3 57 | 6 32 |
| 14 | ven. | s Nicaise. | 7 48 | 4 1 | 4 58 | 7 37 |
| 15 | sam. | s Mesmin. | 7 49 | 4 2 | 6 5 | 8 32 |
| 16 | *Dim.* | ste Adélaïde. | 7 50 | 4 2 | 7 15 | 9 18 |
| 17 | lun. | ste Olympe. | 7 50 | 4 2 | 8 26 | 9 56 |
| 18 | mar. | s Gatien. | 7 51 | 4 2 | 9 34 | 10 28 |
| 19 | mer. | s Meurice. *Q.T.* | 7 52 | 4 3 | 10 41 | 10 56 |
| 20 | jeud. | s Philogone. | 7 52 | 4 3 | 11 45 | 11 21 |
| 21 | ven. | s Thomas. | 7 53 | 4 4 | — — | 11 46 |
| 22 | sam. | s Honorat. | 7 53 | 4 4 | 0 Matin. 48 | 0 Soir. 10 |
| 23 | *Dim.* | ste Victoire. | 7 54 | 4 5 | 1 49 | 0 36 |
| 24 | lun. | ste Delphine. *V. j.* | 7 54 | 4 5 | 2 50 | 1 4 |
| 25 | mar. | NOEL. | 7 55 | 4 6 | 3 50 | 1 35 |
| 26 | mer. | s Étienne. | 7 55 | 4 6 | 4 49 | 2 11 |
| 27 | jeud. | s Jean, ap. | 7 55 | 4 7 | 5 45 | 2 53 |
| 28 | ven. | Les ss. Innocents | 7 56 | 4 8 | 6 37 | 3 41 |
| 29 | sam. | s Thomas de Can. | 7 56 | 4 9 | 7 24 | 4 36 |
| 30 | *Dim.* | ste Colombe. | 7 56 | 4 10 | 8 7 | 5 36 |
| 31 | lun. | s Sylvestre. | 7 56 | 4 11 | 8 44 | 6 40 |

| *Phases de la lune.* | *Passage de la lune au méridien.* |
|---|---|
| ☽ P. Q., le 7, à 11h 55m mat. | Le 7, à 6h 8m du soir. |
| ○ P. L., le 14, à 3h 38m mat. | Le 15, à 0h 47m du matin. |
| ☾ D. Q., le 21, à 8h 18m mat. | Le 22, à 6h 33m du matin. |
| ● N. L., le 29, à 1h 9m soir. | Le 29, à 0h 0m du soir. |

# L'ANNÉE 1883

L'ANNÉE 1883 RÉPOND AUX ANNÉES :

6596 de la période julienne.
2659 des Olympiades. La 1re année de la 664e Olympiade commence en juillet 1877.
2636 de la fondation de Rome selon Varron (mars).
2630 de l'époque de Nabonassar depuis février.
1883 de la naissance de Jésus-Christ.
1300 de l'Hégire ou des Turcs

## COMPUT ECCLÉSIASTIQUE.

| | | | |
|---|---|---|---|
| Nombre d'or. . . . . | 3 | Cycle solaire. . . . . | 16 |
| Epacte. . . . . | XXII | Indiction romaine. . | 11 |
| Lettre dominicale. . . . . | | | G |

## FÊTES MOBILES.

La Septuagésime, le 21 janvier.
Les CENDRES, le 7 février.
PAQUES, le 25 mars.
Les Rogations, 30 avril, 1er et 2 mai.
L'ASCENSION, le 3 mai.

LA PENTECOTE, le 13 mai.
La Trinité, le 20 mai.
La FÊTE-DIEU, le 24 mai.
L'Avent, le 2 décembre.

## QUATRE-TEMPS.

| | |
|---|---|
| Les 14, 16 et 17 février. | Les 19, 21 et 22 septembre. |
| Les 16, 18 et 19 mai. | Les 19, 21 et 22 décembre. |

## COMMENCEMENT DES SAISONS.

Le Printemps commencera le 20 mars, à 10 heures 59 minutes du soir. *Equinoxe.*

L'Eté commencera le 21 juin, à 7 heure 12 minutes du soir.

L'Automne commencera le 23 septembre, à 9 heures 41 minutes du matin. *Equinoxe.*

L'Hiver commencera le 22 décembre, à 4 heures 1 min. du matin.

## ÉCLIPSES DE 1883.

Le 22 avril, *éclipse partielle de lune,* invisible à Paris.

Le 6 mai, *éclipse totale de soleil,* invisible à Paris.

Le 16 octobre, *éclipse partielle de lune,* en partie visible à Paris.

Commencement, à 6 h. 18 m. du matin; milieu, à 7 h. 03 m. du matin; fin, à 7 h. 58 m. du matin.

Le 30 octobre, *éclipse annulaire de soleil,* invisible à Paris.

## SIGNES DU ZODIAQUE.

| | Degrés. | | Degrés. |
|---|---|---|---|
| 0 ♈ *Aries*, le Bélier . | 0 | 7 ♏ *Scorpius*, le Scorpion . . . . | 210 |
| 1 ♉ *Taurus*, le Taureau | 30 | 8 ♐ *Sagittarius*, le Sagittaire. . | 240 |
| 2 ♊ *Gemini*, les Gémeaux . . . . | 60 | 9 ♑ *Capricornus*, le Capricorne . | 270 |
| 3 ♋ *Cancer*, l'Écrevisse | 90 | 10 ♒ *Aquarius*, le Verseau. . . | 300 |
| 4 ♌ *Leo*, le Lion. . . | 120 | 11 ♓ *Pisces*, les Poissons . . . . | 330 |
| 5 ♍ *Virgo*, la Vierge | 150 | | |
| 6 ♎ *Libra*, la Balance | 180 | | |

☉ Le Soleil. — ● La Lune, satellite de la Terre.

## PLANÈTES.

☿ Mercure. ♀ Vénus. ♁ Terre. ♂ Mars. ♃ Jupiter. ♄ Saturne. ♅ Uranus. ♆ Neptune. ⚶ Vesta. ⚵ Junon. ⚳ Cérès. ⚴ Pallas. Astrée. Hébé. Iris. Flore. Métis. Hygie. Parthénope. Victoria. Égérie. Irène. Eunomia. Psyché. Thétis. Melpomène. Fortuna. Massalia. Lutetia. Calliope. Thalie. Thémis. Phocéa. Proserpine. Euterpe. Bellone. Amphitrite. Uranie. Euphrosine. Pomone. Polymnie. Circé. Leucothée. Atalante. Fidès. Léda. Lætitia. Harmonia. Daphné. Isis. Ariane. Nysa. Eugenia. Hestia. Aglaïa. Doris. Palès. Virginia. Nemausa. Europa. Calypso. Alexandra. Pandore. Meleté. Mnémosyne. Concordia. Olympia. Écho. Danaé. Erato. Ausonia. Angelina. Maximiliana. Maja. Asia. Leto. Hesperia. Panopea. Niobé. Feronia. Clytia. Galathea. Eurydice. Freia. Frigga. Diana. Eurynome. Sapho. Terpsichore. Alcmène. Béatrix. Clio. Io. Sémélé. Sylvia. Thisbé. Antiope. Udine. Aréthusa. Ægle. Clotho. Ianthe.

## TABLEAU DES GRANDES MARÉES.

| Mois. | Jours et heures de la syzygie. | Haut. de la marée. |
|---|---|---|
| Janvier. . . | N. L. le 9, à 6 h. 9 min. du matin. | 0,94 |
| | P. L. le 23, à 7 h. 25 min. du matin. | 0,88 |
| Février. . . | N. L. le 7, à 6 h. 20 min. du soir. . | 1,07 |
| | P. L. le 22, à 0 h. 28 min. du matin. | 0,88 |
| Mars. . . . | N. L. le 9, à 4 h. 41 min. du matin. | 1,15 |
| | P. L. le 23, à 6 h. 14 min. du soir. . | 0,87 |
| Avril. . . . | N. L. le 7, à 1 h. 46 min. du soir. . | 1,14 |
| | P. L. le 22, à 11 h. 37 min. du matin. | 0,83 |
| Mai. . . . . | N. L. le 6, à 10 h. 08 min. du soir. . | 1,04 |
| | P. L. le 22, à 3 h. 21 min. du matin. | 0,80 |
| Juin. . . . . | N. L. le 5, à 6 h. 22 min. du matin. | 0,95 |
| | P. L. le 20, à 4 h. 41 min. du soir. . | 0,82 |
| Juillet. . . . | N. L. le 4, à 3 h. 13 min. du soir. . | 0,90 |
| | P. L. le 20, à 3 h. 40 min. du matin. | 0,91 |
| Août. . . . | N. L. le 3, à 1 h. 36 min. du matin. | 0,90 |
| | P. L. le 18, à 1 h. 3 min. du soir. . | 1,03 |
| Septembre . | N. L. le 1, à 2 h. 23 min. du soir. . | 0,90 |
| | P. L. le 16, à 9 h. 51 min. du soir. . | 1,12 |
| Octobre. . . | N. L. le 1, à 6 h. 4 min. du matin. | 0,87 |
| | P. L. le 16, à 6 h. 55 min. du matin. | 1,13 |
| | N. L. le 31, à 0 h. 6 min. du matin. | 0,82 |
| Novembre. . | P. L. le 14, à 4 h. 47 min. du soir. . | 1,07 |
| | N. L. le 29, à 7 h. 4 min. du soir. . | 0,79 |
| Décembre. | P. L. le 14, à 3 h. 38 min. du matin. | 1,00 |
| | N. L. le 29, à 1 h. 9 min. du soir. . | 0,82 |

On a remarqué que, dans nos ports, les plus grandes

marées suivent d'un jour et demi la nouvelle et la pleine lune. Ainsi, on aura l'époque où elles arrivent en ajoutant un jour et demi à la date des syzygies. On voit, par ce tableau, que pendant l'année 1883 les plus fortes marées seront celles des 9 février, 10 mars, 9 avril, 8 mai, 20 août, 18 septembre, 17 octobre, 16 novembre et 15 décembre. Ces marées, surtout celles des 10 mars, 9 avril, 18 septembre et 17 octobre, pourraient occasionner quelques désastres, si elles étaient favorisées par les vents.

Voici l'unité de hauteur pour quelques ports :

| | | | |
|---|---|---|---|
| Port de Brest..... | 3 m. 21 | Port de Saint-Malo.... | 5 m. 68 |
| — Lorient..... | 2 m. 24 | — Audierne..... | 2 m. 00 |
| — Cherbourg .... | 2 m. 82 | — Croisic..... | 2 m. 50 |
| — Granville ..... | 6 m. 15 | — Dieppe ..... | 4 m. 40 |

Pour avoir la hauteur d'une grande marée dans un port, il faut multiplier la hauteur de la marée prise dans le tableau précédent par l'unité de hauteur qui convient à ce port. *Exemple :* Quelle sera à Brest la hauteur de la marée qui arrivera le 10 mars, un jour et demi après la syzygie du 9? Multipliez 3 m. 21, unité de hauteur à Brest, par le facteur 1,15 de la Table, vous aurez 3 m. 69 pour la hauteur de la mer au-dessus du niveau moyen qui aurait lieu si l'action du soleil et de la lune venait à cesser.

# CALENDRIER DU JARDINIER.

## Janvier.

Labour à la bêche des terrains qui doivent être semés aux mois de mars et avril. — Conduire le fumier. — Confection de couches. — Semer sur couche laitues et carottes hâtives. — Repiquer sous cloches laitues et romaines. — Si le temps est beau, donner de l'air aux artichauts. — Forcer les asperges. — Semer pois michaux hâtifs sur costières. — Visiter la serre aux légumes.

Planter arbres fruitiers dans les sols secs, s'il ne gèle pas. — Laver au lait de chaux les arbres fruitiers couverts de lichen et de mousse. — Tailler les poiriers et pommiers.

Utiliser les mauvais jours en fabriquant des paillassons.

## Février.

Continuer les labours et les fumures. — Semer en pleine terre poireaux, persil, cerfeuil, cresson alénois, pois hâtifs et oignons blancs, fèves de marais. — Semer sur couche melons, haricots pour récolter en vert, radis. — Repiquer sur couche laitues et romaines hâtives. — Aérer les artichauts. — Récolter les choux de Bruxelles. — Labourer les asperges.

Continuer les plantations et la taille des arbres fruitiers à pepins. — Commencer la taille des arbres à noyaux. — Écheniller les haies et les arbres. — Planter et tailler la vigne.

## Mars.

Continuer la préparation des carrés. — Semer sur costières ou couche sourde les choux d'York, de Milan, quintal et les choux-raves. — Semer en pleine terre betteraves, carottes, pois, chicorée, etc. — Planter les

pommes de terre hâtives, griffes d'asperges et bulbes d'ail et d'échalote. — Découvrir les artichauts. — Renouveler les réchauds des couches. — Planter les porte-graines. — Donner de l'air aux plantes sous châssis.

Terminer la taille des arbres fruitiers. — Bouturer les groseilliers. — Abriter contre les froids les pêchers, abricotiers qui vont fleurir.

### Avril.

Semer sur couche les céleri, chicorée, citrouilles, courges, cornichons. — Semer en pleine terre toutes les graines, sauf les haricots. — Repiquer les choux-fleurs semés en janvier sur couche. — Arroser si cela est utile. — Labourer et œilletonner les artichauts. — Planter les fraisiers. — Récolter les asperges.

Continuer à abriter les arbres fruitiers en fleur, tels que pêchers, abricotiers. — Pratiquer les greffes.

### Mai.

Continuer les semis des mois de mars et d'avril. — Semer les choux-fleurs, salsifis et brocolis. — Transplanter laitue, romaine, chicorée. — Repiquer sur couche sourde et sous cloches les melons. — Pincer les fèves. — Ramer les pois. — Semer haricots pour récolter en sec. — Planter ciboules et poireaux. — Déchausser les échalotes. — Mettre en place et en pleine terre les tomates. — Arroser amplement et fréquemment.

Ebourgeonner les arbres fruitiers. — Palisser la vigne.

### Juin.

Continuer à semer les haricots. — Lier les romaines et les chicorées. — Transplanter les choux, choux-fleurs, oignons, poireaux, etc., semés au printemps en pépinière. — Ramer les pois et les haricots. — Enlever les coulants des fraisiers. — Pincer les tomates. — Tailler les melons de seconde saison. — Récolter artichauts, fraises, melons hâtifs cultivés sous châssis. —

Arroser les fraisiers et tous les légumes qui demandent beaucoup d'eau. — Biner et sarcler.

Continuer à ébourgeonner et palisser les arbres fruitiers. — Commencer à récolter les cerises.

### Juillet.

Semer les pois tardifs. — Renouveler les semis d'oignons. — Lier les chicorées et scaroles. — Lier et butter les cardons. — Récolter pommes de terre hâtives, échalotes, ail. — Tailler une seconde fois les melons. On commence à récolter les cornichons. — Arroser et butter les céleris. — Sarcler et biner les carottes, betteraves, etc. — Récolter les semences et porte-graines à mesure qu'ils mûrissent. — Enlever les coulants des fraisiers.

Ecussonner et desserrer les ligatures des greffes du printemps. — Ebourgeonnement et palissage des pêchers, vignes, etc. — Enlever les feuilles qui couvrent complétement les pêches et les abricots.

### Août.

Semer chicorée, navets, épinards, mâche, choux cœur de bœuf et pain de sucre, etc. — Repiquer les plants de fraisiers. — Arroser largement. — Surveiller les porte-graines. — Semer les oignons blancs hâtifs. — Biner et sarcler. — Butter les céleris et cardons. — Récolter les oignons.

Continuer à écussonner et à palisser. — Commencer l'épamprage des treilles et des vignes. — Opérer la taille en vert dite *cassement*. — Détruire les animaux et insectes qui attaquent les fruits mûrs.

### Septembre.

Semer choux-fleurs demi-durs, laitue d'hiver, radis noirs, épinards pour mars et avril, mâche. — Planter choux et chicorée pour l'hiver. — Repiquer l'oignon blanc. — Terminer la récolte des graines. — Empoter les fraisiers qui doivent être forcés. — Préparer les silos

et magasins destinés aux racines. — Planter oseille et fraisiers. — Labourer et fumer les carrés non occupés. — Terminer la récolte des oignons.

Continuer l'épamprement des vignes. — Récolter et sécher les prunes à pruneaux. — Biner les pépinières. — Opérer le dernier pincement. — Récolter les poires.

### Octobre.

Planter griffes d'asperges dans les sols secs. — Supprimer les vieux pieds d'artichauts. — Repiquer les choux d'York, cœur de bœuf et pain de sucre. — Planter les choux de printemps et les laitues d'hiver. — Détruire les vieilles couches. — Récolter les navets. — Mettre en jauge les choux cabus pommés.

Commencer la plantation des arbres fruitiers qui se dépouillent de leurs feuilles. — Continuer la récolte des fruits à pepins.

### Novembre.

Semer mâche, pois hâtifs et carottes de Hollande. — Butter les artichauts. — Mettre en place les choux semés en août. — Replanter oseille. — Rentrer dans les caves les cardons, chicorée, céleri, choux-fleurs et les derniers artichauts. — Arracher les carottes, betteraves et navets.

Continuer, s'il y a lieu, les plantations des arbres fruitiers. — Préparer les trous pour les plantations du printemps.

Ramasser les feuilles et confectionner les composts.

### Décembre.

Couvrir les artichauts de feuilles et de fumier. — Visiter les légumes conservés dans les silos ou les caves, et donner de l'air pendant le jour. — Commencer les labours d'hiver.

Continuer les plantations et commencer la taille des arbres à pepins.

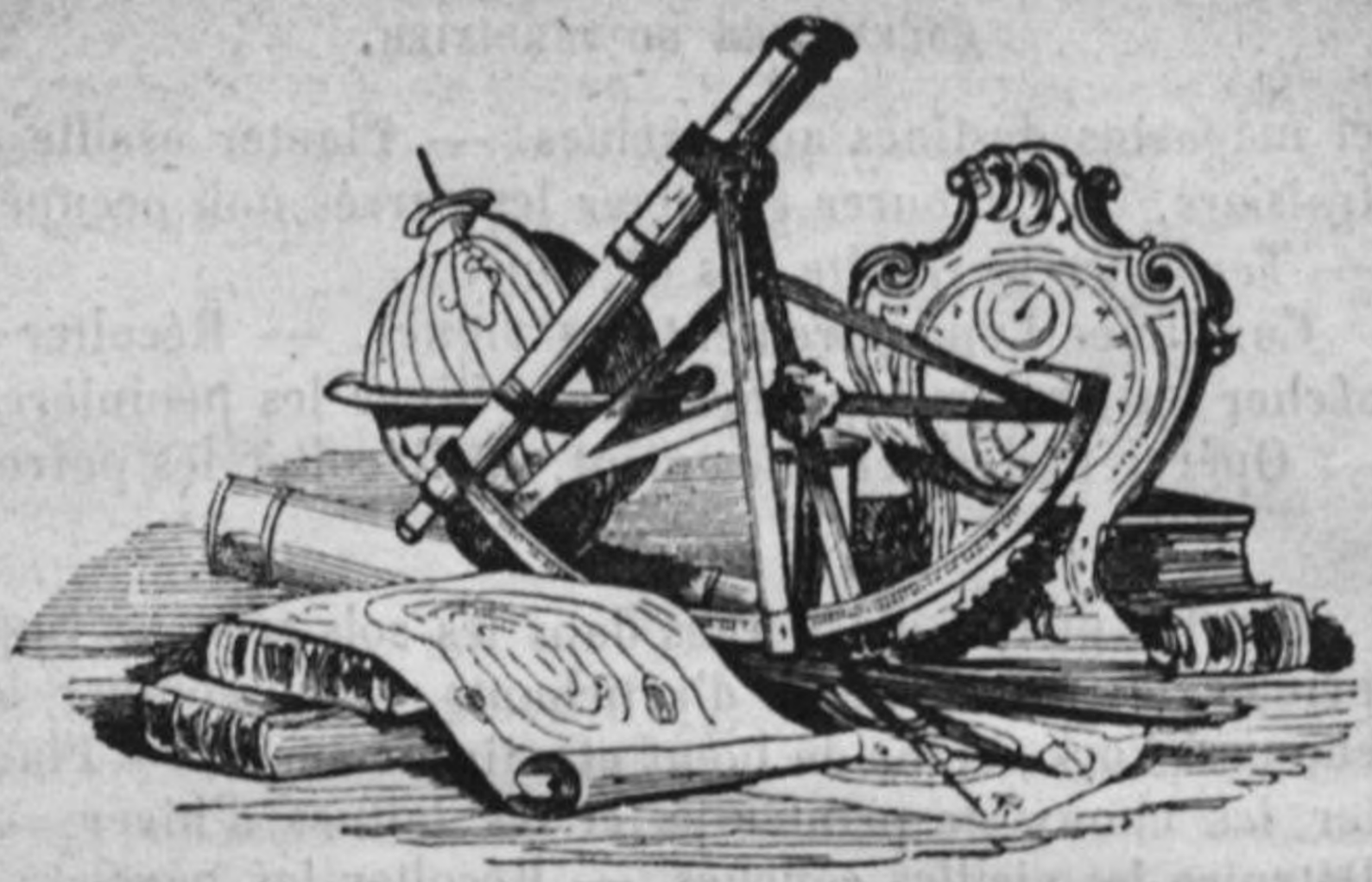

# ASTRONOMIE ET MÉTÉOROLOGIE

## L'ASTRONOME HIPPARQUE

Une vingtaine d'années environ après la mort d'Eratosthène, naissait le plus grand astronome de l'antiquité, Hipparque, que l'on dit originaire tantôt de Rhodes et tantôt de Nicée, mais qui résida surtout à Rhodes, où il fit la plus grande partie de ses observations. Hipparque fut le plus grand astronome de l'antiquité grecque, avons-nous dit, et cependant nous ne connaissons qu'une faible partie de ses travaux; son nom est venu jusqu'à nous avec l'auréole de la célébrité, grâce à l'enthousiasme que Ptolémée et Pline éprouvèrent pour ses recherches.

Suivant les plus anciens astronomes, le Zodiaque et les Tropiques étaient des espaces parfaitement définis, matériels, solides en quelque sorte, qui servaient de guides au Soleil. Cet astre devait suivre ces cercles comme la locomotive suit le rail qui la maintient dans le vrai chemin. Hipparque renversa

tout cet échafaudage, en démontrant que les cercles célestes sont purement géométriques, hypothétiques, et n'ont été supposés que pour expliquer le passage des astres.

Au temps d'Hipparque, on possédait déjà un catalogue des étoiles perceptibles à l'œil nu; mais une nouvelle étoile étant apparue, qui ne se trouvait mentionnée sur aucun catalogue, Hipparque voulut soumettre le ciel à une révision complète, et, sans se laisser arrêter par l'énormité de l'œuvre, il détermina pour un grand nombre d'étoiles la position en longitude, en latitude, et leur grandeur, en même temps qu'il leur imposa quelques noms. Le catalogue d'Hipparque n'enregistra pas moins de 1,026 étoiles, désignées par grandeur, constellation et position.

En parlant de la difficulté des anciens à établir leur calendrier, nous avons dit que l'astronome grec Méton avait à peu près réussi à faire concorder les dates de commencement des saisons avec les mouvements du Soleil et le retour de l'astre dans les mêmes constellations. A la longue, on s'aperçut qu'une différence existait encore pour amener une concordance parfaite, et Hipparque, ayant refait et vérifié toutes les observations anciennes, put constater que ses prédécesseurs en astronomie avaient assigné aux années solaire et lunaire une durée trop longue. L'année dite égyptienne, ou année d'alors, était, pensait-on, de 365 jours et 6 heures; mais Hipparque trouva qu'une révolution complète du Soleil autour de la Terre s'effectue en 365 jours et 5 heures 48 minutes et 51 secondes. La correction du cycle de Méton ne fut pas adoptée, mais ce travail démontra à Hipparque un fait complétement inconnu alors, la différence de durée entre la révolu-

tion complète du Soleil autour de la Terre et le retour du Soleil au même point du ciel étoilé, point marqué par sa comparaison aux étoiles qualifiées de fixes à cause de leur immobilité apparente.

Par le rapprochement de ses observations avec celles de ses devanciers, Hipparque s'aperçut qu'entre la durée de l'année sidérale et celle de l'année tropique existe une petite différence.

On donne le nom d'année tropique à l'espace de temps nécessaire au Soleil pour revenir au même point de l'équinoxe, c'est-à-dire au point d'intersection du cercle idéal appelé *écliptique* avec le cercle également idéal nommé *équateur* terrestre. Cet espace de temps est de 365 jours 5 heures 48 minutes et 51 secondes. Pour la facilité des explications et des démonstrations, on suppose, comme les Anciens, que c'est le Soleil qui tourne autour de la Terre, et non celle-ci autour du Soleil.

L'année sidérale est un peu plus longue : c'est l'espace de temps nécessaire au Soleil pour se retrouver à un même point du ciel, point marqué par une étoile dont la position a été reconnue fixe, ou plutôt par l'une des constellations qui se trouvent sur le tracé idéal de la Terre, une constellation du Zodiaque.

Hipparque reconnut que les étoiles de ces constellations conservaient les mêmes positions respectives, d'où la qualification de fixes qui leur a été appliquée. Ces étoiles fixes lui servirent donc de point de repère, de jalons pour observer la marche du Soleil. Or, la comparaison des observations de son temps avec celles des anciens astronomes d'Alexandrie démontra à Hipparque que le Soleil, alors qu'il était revenu au point équinoxial, se trouvait en avance de quelques

secondes, par rapport aux constellations du Zodiaque. Ces constellations semblaient avoir reculé d'occident en orient, dans le sens contraire de la marche du Soleil d'orient en occident : elles se trouvaient en retard, étaient dépassées par le Soleil. Ainsi, au temps d'Hipparque, le Soleil, qui au printemps, arrivait dans la constellation dite du Bélier, est aujourd'hui, deux mille ans après Hipparque, à la même époque de l'année, dans celle des Poissons, et si l'on a continué d'attribuer aux mois les noms des constellations auxquelles ils répondaient autrefois, c'est seulement comme tradition, comme souvenir, et nullement comme fait réel astronomique.

Ce phénomène du retard de l'année sidérale sur l'année tropique, de la longueur plus grande de la première, est appelé la *précession des équinoxes*, autrement dit l'avance des saisons sur l'époque réelle à laquelle elles devraient commencer, époque que nous supposons marquée, ainsi que nous le disions plus haut, par le retour du Soleil au même point du ciel.

Hipparque, pour constater la différence de longueur des deux années, avait dû calculer la distance qui sépare une étoile de la constellation de la *Vierge*, celle que l'on nomme l'*Epi*, du point équinoxial ; il avait trouvé, entre cette distance calculée un siècle et demi avant lui et ses opérations personnelles, une différence assez grande : l'Epi paraissait être plus avancé, dans le sens de la longitude des constellations, d'environ huit degrés ou d'un quarante-cinquième de la circonférence du Soleil. Enfin, la précession des équinoxes, comme le démontra le savant astronome de Rhodes, doit faire parcourir au Soleil, pour une même époque, la série

complète des constellations zodiacales en vingt-cinq mille ans. Dans vingt-cinq mille ans, le Soleil se trouvera jour pour jour, le 21 mars, au même point du ciel qu'il occupait cette année.

Un autre fait, absolument inconnu à l'époque où vivait Hipparque, est celui de l'inégalité des saisons, ou plutôt, pour employer les termes consacrés, l'inégalité du mouvement propre du Soleil. Par la combinaison de ses observations avec celles de ses devanciers, Hipparque s'assura que l'écliptique, ou route solaire, se trouve partagé en quatre arcs d'inégale longueur. Le temps que met le Soleil à parcourir chacune de ces parties constitue la saison. Or, si les quatre parties de l'écliptique sont égales entre elles, le temps employé par le Soleil pour les parcourir successivement est plus long pour les deux saisons printemps et été, plus court pour les deux autres, automne et hiver. Le Soleil met 187 jours à parcourir les arcs printanier et estival, et 178 pour la traversée des deux autres quarts de la ligne de l'écliptique.

La durée astronomique du printemps, époque comprise entre le passage du Soleil au point de l'équinoxe et son passage au solstice d'été, est de quatre-vingt-quatorze jours et demi : le temps employé à franchir le point suivant, compris entre le solstice d'été et l'équinoxe d'automne, est de quatre-vingt-douze jours et demi; l'automne est encore plus court, puisqu'il n'a qu'une durée de quatre-vingt-neuf jours environ; et l'hiver est la plus courte saison au point de vue astronomique seulement, puisque le passage du Soleil du solstice d'hiver à l'équinoxe printanier n'est que de quatre-vingt-sept jours.

Ceci, bien entendu, observé pour notre hémisphère,

l'hémisphère boréal, le seul, d'ailleurs, sur lequel Hipparque pouvait raisonner.

Donc, et bien que les astronomes de l'Ecole d'Alexandrie eussent émis le principe que le mouvement du Soleil autour de la Terre est absolument uniforme, que cette uniformité de mouvement est une règle sans exception à laquelle se trouvent soumis tous les astres, Hipparque renversa cette théorie, malgré l'espèce de culte respectueux que semblaient lui porter les astronomes et aussi le monde religieux de l'époque.

Hipparque fit également connaître que la distance entre les astres et la Terre est variable suivant les époques d'observations, ce qui, aujourd'hui, est un fait bien connu pour la Lune et le Soleil comme pour les planètes. On sait, en effet, que la Lune est tantôt à son *périgée,* ou point le plus rapproché de la Terre, et tantôt à son *apogée,* ou point le plus éloigné. Alors que l'astre est au périgée, la distance de notre planète égale cinquante-six fois et soixante centièmes la longueur du rayon terrestre; quand il est à l'apogée, sa distance est égale à soixante-trois fois la longueur du rayon et seize centièmes.

Cette observation conduisit Hipparque à calculer que la distance moyenne de la Lune est égale à cinquante-neuf fois la longueur du rayon terrestre, ce qui, bien que n'étant pas exact, se rapprochait beaucoup de la vérité, puisque, d'après les chiffres cités plus haut, cette distance moyenne est à peu près égale à soixante diamètres terrestres. Une telle erreur est sans importance, si nous considérons combien étaient imparfaits les instruments dont pouvait disposer l'astronomie au temps de l'Ecole d'Alexandrie.

Hipparque fut moins heureux dans ses tentatives

pour se rendre un compte exact de la distance du Soleil à la Terre et de la grandeur de l'astre central de notre système. Il évaluait le diamètre solaire à cinq fois et demie celui de la Terre, et la distance entre les deux astres comme égale à douze cents fois la longueur du rayon terrestre. Ici l'erreur était considérable, puisque le diamètre du Soleil n'est pas cinq fois et demie, mais cent douze fois plus grand que le diamètre terrestre, et l'éloignement moyen des deux astres égal, non à douze cents rayons terrestres, mais à 24.068.

Nous ne pouvons qu'énumérer les principaux travaux d'Hipparque, qui s'occupa également, d'après Ptolémée, de classer et de cataloguer toutes les observations que l'on possédait alors à Alexandrie, catalogue devant, dans sa pensée, servir à établir une théorie des planètes, à rechercher à quelles lois sont soumis ces astres sous le rapport de leurs mouvements propres et de leur marche apparente ou réelle, comparée à ces mêmes mouvements pour le Soleil et la Terre.

Tous ces travaux, l'illustre savant grec les exécuta au moyen de procédés de calculs et d'observations très-imparfaits. On ne possédait pas alors les magnifiques instruments de nos observatoires modernes; on n'avait ni télescopes, ni lunettes; on ne connaissait pas ces grands appareils qui peuvent suivre les astres pendant leur marche, et tout au plus savait-on observer le Soleil, la Lune, les planètes et les étoiles en se servant d'un tuyau de bois libre aux deux extrémités pour observer un astre et l'isoler de ses voisins.

De plus, à défaut d'instruments, les anciens n'avaient aucune notion de nos mathématiques modernes, ne possédaient ni nos procédés géométriques, ni nos méthodes de calculs intégral, différentiel, logarithmi-

que. De là une impossibilité absolue pour eux d'entreprendre certaines opérations avec chance de résultat exact.

## UNE PIERRE TOMBÉE DU CIEL

Dans la matinée du 14 novembre 1881, une très-grande pierre météorique qui semblait venir d'un point situé sur le Haut-lec, directement au-dessus du sommet des montagnes qui bordent le lac de Genève, du côté de la Savoie, est venue tomber avec un bruit effroyable sur la place du marché, à Vevey; elle aurait certainement écrasé la maison sur laquelle elle serait tombée.

## MIRAGE

Un fait de mirage vraiment extraordinaire s'est montré, le 10 octobre, à Rügenwald, dans la Poméranie. Pendant l'après-midi, on voyait en l'air un village du Nord avec ses toits couverts de neige et des aiguilles de glace suspendues au bord des toits. On aurait même reconnu à l'œil nu des formes humaines. On pense que le village vu ainsi par réfraction à distance était Nexœ, dans l'île de Bœnhohn.

## OBSERVATOIRE DU TROCADÉRO

Le 14 juillet 1880, un observatoire populaire a été établi par M. Jaubert au Trocadéro. Dans une note envoyée à l'Académie des sciences en janvier 1882, M. Janbert a énuméré les services déjà rendus par cet établissement. Plus de deux mille personnes ont suivi les conférences, les observations astronomiques ou microscopiques.

Les élèves de l'Ecole annexée à l'établissement

ont tenu un journal de leurs observations, nombreuses et très-bien faites, et même plusieurs d'entre eux se sont réunis pour installer à leurs frais un laboratoire. Enfin, M. Jaubert, aidé de collaborateurs zélés, appartenant pour la plupart au corps enseignant, a organisé, tous les jeudis et les dimanches, une série de cours très-suivis, sur toutes les parties de l'enseignement des sciences.

## OBSERVATOIRES TURCS

La Turquie, restée longtemps en dehors de tout mouvement intellectuel et scientifique, va bientôt être en possession de deux observatoires construits sur le modèle de ceux d'Europe et pourvus des instruments les plus perfectionnés. L'un de ces établissements, le plus important, sera placé dans le district d'Yildiz, et l'autre au collége impérial du sérail à Galata.

Les idées ont marché en peu de temps dans ce pays. Il y a quelques années, un Turc plus entreprenant et moins superstitieux que ses compatriotes fit venir quelques astronomes étrangers pour faire des observations en Turquie; mais le jour même de leur arrivée, un navire chargé de poudre sauta dans la Corne d'or. Les ennemis d'inventions nouvelles, qui étaient nombreux dans ce temps, et qui pensaient que les astronomes devaient prédire les événements futurs, tenaient le raisonnement suivant : ou ces gens ont su d'avance l'événement qui vient de se passer, et dans ce cas ce sont des scélérats; ou ils ne l'ont pas su, et alors ce sont des imbéciles qui ne savent pas lire l'avenir dans les étoiles. La conséquence fut que les malheureux savants furent congédiés sur-le-champ et durent retourner d'où ils venaient.

## UN BOLIDE

Le jeudi 2 février 1882, à cinq heures douze minutes du matin, un magnifique bolide était observé à Amiens.

Parti de la constellation du Lion, en laissant derrière lui une brillante traînée, le météore a éclaté non loin de l'étoile Pollux, des Gémeaux, et s'est épanoui en une magnifique gerbe de feu. Puis, le fragment principal est allé se perdre à l'horizon entre les constellations du Cocher et du Taureau

L'éclat de ce météore effaçait celui de la lune, qui cependant éclairait très-vivement toute cette région du ciel, où elle se trouvait alors.

## OBSERVATOIRE DE NICE

L'observatoire de Nice se construit près de cette ville, sur le mont Gros, qui domine la mer de 370 mètres. Les terrains, d'une étendue de 50 hectares, les bâtiments construits par M. Charles Garnier, le célèbre architecte de l'Opéra, l'ameublement et l'ensemble des appareils présentent une somme de trois millions de francs. En outre, l'établissement, dont le Bureau de longitude a accepté de prendre possession, est doté d'une rente suffisante pour l'entretien du double service astronomique et météorologique. Le directeur est M. Perrotin, ancien adjoint de M. Tisserand à Toulouse; M. Carvalho, ancien élève de l'Ecole polytechnique, est chef du service météorologique.

## PLUIE NOIRE

En septembre 1881, un curieux phénomène a été observé sur plusieurs points du département de la

Seine-Inférieure, notamment à Oissel et à Criquebœuf. Les ménagères ont été surprises de voir les seaux et baquets qu'elles avaient placés sous les gouttières se remplir d'un liquide noirâtre au lieu de l'eau limpide qu'elles attendaient; quelques-unes, croyant que le fait était le résultat du lavage des toits, qui pourtant avaient dû être surabondamment purifiés par les averses des jours précédents, remplacèrent le récipient primitif par des vases parfaitement nettoyés; le résultat fut le même, la pluie reçue était noire. Ajoutons que le phénomène est loin d'être absolument nouveau sur ce point de la France; déjà, il y a trois ans, il avait été constaté à Saint-Jouin et relaté dans une communication à la Société havraise d'études diverses. Il y a une quinzaine d'années, on l'avait également signalé à Rolleville. Nous nous permettrons de faire remarquer que ces faits ont toujours été observés en septembre, ce qui permet d'en chercher la cause dans un phénomène particulier à cette saison de l'année. Ne serait-ce pas une abondante émission de sporules d'un cryptogame? Il y a là un problème curieux à résoudre.

## LES EFFETS DE LA SÉCHERESSE HIVERNALE DE 1882

Les effets de la sécheresse qui s'est prolongée pendant cinquante-trois jours en décembre 1881 et janvier 1882 ont été curieux.

La Marne et la Seine, très-basses, étaient extraordinairement claires. Ce fait, en plein hiver, est sans exemple dans des rivières non couvertes de glaces. La transparence de la Seine et de la Marne est de $3^m,50$ environ, ce qui est à peu près le maximum; mais une telle clarté de l'eau, quand elle a lieu, ne se présente ordinairement qu'en septembre.

Le Loiret a baissé de près d'un mètre ; le niveau des eaux de la Loire est, à peu de chose près, celui qu'a ce fleuve à l'époque de nos grandes chaleurs, en août et septembre.

Du côté de l'Est, c'est pire encore. Par suite de la sécheresse persistante, et sous l'influence du vent de nord-est, les eaux du Rhin ont considérablement baissé. Fin janvier, elles marquaient au pont de Kehl 50 centimètres. C'est trente-deux centimètres au-dessous du plus bas niveau de ce siècle.

Les chutes du Rhin à Schaffhouse ont présenté un spectacle curieux, car les rochers, minés et fouillés d'une façon étrange par les eaux qui les recouvrent habituellement, étaient visibles jusqu'à leur base.

Par suite de cette sécheresse exceptionnelle, les réservoirs de Gondrexange et de Réchicourt, situés sur le territoire de l'Alsace-Lorraine, ont été presque mis à sec.

La navigation a été interrompue sur la partie allemande du canal de la Marne au Rhin et sur le canal de la Sarre qui recoivent de ces deux réservoirs leurs eaux d'alimentation, et sur la partie française du canal de la Marne au Rhin qui est alimentée par les mêmes réservoirs, c'est-à-dire entre l'écluse de Dombasle et la frontière.

Chose bizarre, pendant que nous avions en nos climats une température aussi élevée, relativement à la saison ; pendant qu'au pic du Midi, à l'hospice du grand Saint-Bernard, le soleil se montrait radieux, la plus grande partie de l'Europe méridionale, notre province d'Algérie, et même l'Asie Mineure, subissaient des froids très-vifs. A Alger, le thermomètre est descendu à zéro, et il a neigé dans l'île de Chypre !

A Athènes, le phénomène s'est produit avec une violence plus grande encore. En janvier, il est tombé sur la ville et aux environs de telles quantités de neige que les rues et les routes ont été impraticables, et les communications interrompues.

On a cherché à expliquer les différences de température par des courants aériens. En effet, dans cet intervalle du 8 janvier au 7 février, les vents ont presque constamment soufflé de l'intérieur des continents.

Cette saison hivernale est la plus sèche dont on ait constaté l'existence depuis le commencement du siècle.

## L'INFLUENCE DE LA LUNE SUR LA VÉGÉTATION

On a souvent demandé si la lune avait une réelle influence sur la végétation, et nous avons répondu que, malgré certaines apparences, la chose n'était rien moins que prouvée.

Nous trouvons dans la *Gazette du village,* sous la signature de M. Joigneaux, quelques lignes bonnes à reproduire, et qui concluent à la négative, relativement à l'agriculture et à l'horticulture, et tout au moins au doute à l'égard des bois.

Nous pensons, dit M. Joigneaux, qu'on attribue à la lune une influence sur la végétation qu'elle n'a pas. Et nous ajoutons que, parmi ceux qui la lui attribuent, il s'en trouve qui ne manquent pas du tout d'intelligence, mais qui manquent d'observation. S'il ne faut rien nier, il ne faut rien croire non plus avant d'avoir bien vu, et pour bien voir il est nécessaire de revenir souvent à son objet.

Pour ce qui nous regarde, nous avons d'abord consulté des maîtres du temps passé. Olivier de Serres

fait remarquer que les jardiniers d'Avignon et ceux de Nîmes, quoique sous le même climat, n'étaient pas d'accord, et que ce que les uns faisaient pendant la nouvelle lune, les autres le faisaient pendant la vieille lune. De son côté, la Quintinie, le directeur des jardins royaux sous Louis XIV, déclare nettement qu'après avoir fait des remarques pendant trente années de suite, il n'est pas arrivé à établir de distinction entre les effets de la jeune lune et ceux de la vieille.

Ceci, convenez-en, n'était pas fait pour nous donner la foi. Mais enfin, comme nous n'avons pas la croyance facile, nous n'étions pas d'humeur à croire sur parole même des hommes d'un fort grand mérite. Et si nous avions pu les prendre en défaut et nous moquer un peu d'eux, nous n'y eussions point manqué. Sept ou huit années de suite, nous avons tenté le coup, mais sans le moindre succès. Nous avons semé et planté en leur saison, en jeune ou vieille lune, toutes les herbes imaginables du potager; rien n'y a fait. Ce qui aurait dû pommer filait parfois; ce qui aurait dû filer pommait. C'était à s'y perdre. Voilà pourquoi nous ne croyons pas à l'influence de la lune en agriculture et en horticulture.

Quant aux bois de charronnage et de menuiserie qui se comportent bien ou mal selon l'état de la lune; quant au fer qui se tourmente au renouveau; quant au sevrage de veaux et à la couvaison des œufs, nous sommes tenté de nier, mais nous n'en avons pas le droit, puisque nous n'avons pas vérifié les dires des croyants en ces sortes de choses. Nous savons seulement que l'opinion commune est en faveur de l'abattage des arbres pendant le décours de la lune,

tandis que Duhamel voulait qu'on les abattît en lune croissante. Nous savons enfin que les arbres ébranchés et équarris aussitôt après l'abattage sont plus sujets à se tourmenter que les arbres laissés quelque temps en grume; mais la lune n'a rien à voir dans cette affaire.

En terminant, n'oublions pas la lune rousse, qui commence toujours en avril. Cette fameuse lune, qui est la terreur de quiconque possède des arbres en fleur et des vignes débourrées, n'a aucune influence directe sur les végétaux. Elle n'a qu'un tort, celui de se montrer au moment où il est dangereux que les couches inférieures de l'air se refroidissent. Et c'est précisément ce qui arrive en avril et en mai, lorsque la lune brille et que le ciel est sans nuages. La chaleur rayonnée par la terre se perd rapidement dans l'espace, et la température s'abaisse. Un nuage, un brouillard, de la fumée, une gaze, les moindres choses qui s'interposent entre la lune et la terre, font l'office d'écran et empêchent souvent les gelées de printemps. La lune rousse fait comme les autres lunes son métier d'éclaireuse. Vous pensez bien que si elle avait une puissance à exercer dans nos cultures, elle se moquerait joliment des petits moyens que nous employons pour qu'elle ne nous voie pas.

## PRONOSTICS DU TEMPS

Les oiseaux sont les meilleurs indicateurs du temps : les pigeons se posent-ils sur le toit d'une grange en présentant le jabot au levant le matin, rentrent-ils de bonne heure au logis, picorent-ils aux environs de la ferme, pluie imminente le lendemain; se rendent-ils tard au colombier, vont-ils butiner au loin dans les champs, c'est signe de beau temps.

Les poules, si elles se roulent dans la poussière plus que de coutume en hérissant leurs plumes, annoncent l'orage prochain. Même prophétie si les canards plongent dans l'eau en battant des ailes, en se poursuivant et criant joyeusement sur la mare.

Les hirondelles volent-elles en rasant la surface de la terre et de l'eau, l'orage n'est pas loin; disparaissent-elles, surtout vers le soir, dans les hauteurs de l'atmosphère, c'est la sécheresse à venir.

Si les corbeaux crient et croassent plus qu'à l'ordinaire, pluie; il en est de même quand les chouettes houloulent et quand les bergeronnettes sautillent le long des fossés.

Les abeilles qui s'écartent peu de leur ruche, et aussi lorsqu'elles y arrivent en foule sans être entièrement chargées, annoncent la pluie très-prochaine. Si la vache lèche les murs de l'étable, c'est-à-dire le salpêtre que l'humidité de l'atmosphère fait suinter, c'est la pluie le lendemain.

D'autres remarques indiquent encore aux habitants des campagnes les changements de temps. Ainsi, pour n'en citer que quelques-unes, nous dirons : la lame de la faux reste-t-elle sèche le matin à la rosée, beau temps; prend-elle l'humidité en se teignant de bleu ou de rose, c'est de la pluie à courte échéance. Le bûcheron qui va au bois consulte sa cognée également, comme le faucheur interroge sa faux : si la hache est nette et luisante, la journée sera belle; mais si elle est terne et si le manche ne glisse pas dans la main, gare à l'orage!

## TACHES DU SOLEIL

M. Tracchini, astronome italien, annonçait en mars 1882 à l'Académie que les taches remarquées

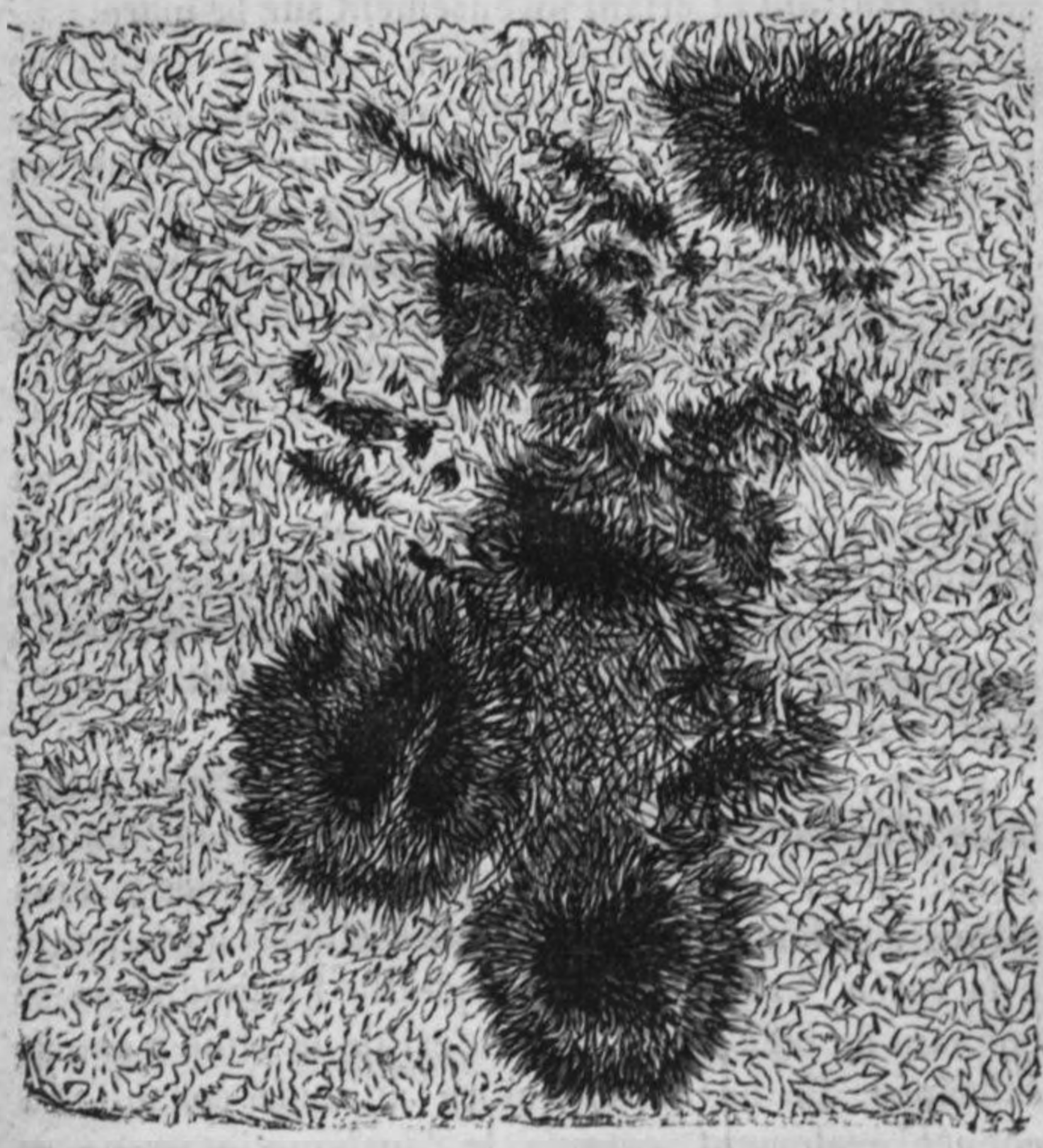

à la surface du soleil étaient alors deux fois plus nombreuses au nord qu'au sud de cet astre. Peut-être il y a-t-il eu quelque corrélation entre ce fait astronomique et la douceur exceptionnelle de l'hiver de 1881-1882.

## LES CYCLONES

Les cyclones sont de terribles phénomènes peu connus sous nos climats, mais beaucoup plus communs et plus redoutables dans les mers des Indes et de Chine.

La plupart des cyclones soufflent au printemps et en automne, d'avril en juin et de septembre en novembre, à l'époque où les moussons changent de direction, et surtout quand la mousson du sud-ouest fait place à celle du nord-ouest, c'est-à-dire en automne. Sur 88 de ces tempêtes dans l'océan Indien, il y en eut 49 en automne et 29 seulement au printemps. Et presque toutes ces 49 éclatent au nord du 15e degré de latitude, dans le golfe du Bengale, tandis que les autres ont pour théâtre les flots d'où sortent les îles Adaman.

Toute la côte orientale de l'Inde est exposée à ces ouragans.

Un des premiers cyclones sur lesquels on ait des détails authentiques, celui de 1789, engloutit la ville de Coringo, et fit périr 30,000 habitants. Cette même contrée fut visitée en 1839 par un cyclone aussi terrible que celui de 1789.

Les côtes de Madras et de Coromandel reçoivent aussi de temps en temps ces fâcheuses visites.

De toutes les côtes de l'Inde, celles où le Gange et l'Hougly versent leurs eaux sont le plus éprouvées par ce genre de fléau, parce que, grâce à leur disposition, le vent et l'eau s'y engouffrent comme dans un sac.

Le 31 octobre 1831, une vague s'y étendit jusqu'à 250 kilomètres dans les terres et rasa 300 villages

avec 30,000 personnes. Catastrophe pareille le 7 octobre 1832 et le 21 septembre 1839; tout cela à l'embouchure du Gange. A l'embouchure de l'Hougly, le 21 octobre 1833, la vague soulevée fit périr 10,000 individus, et le 21 mai de cette même année, près de Coringa, 50,000 hommes avaient été noyés dans 600 villages.

Au cyclone du 6 octobre 1864, à Calcutta, presque 4,000 hectares furent envahis par les eaux, bien que les bords de l'Hougly, ceux de ses affluents et les rivages des îles soient protégés par des digues ayant 8 à 10 pieds de hauteur. Que pouvaient ces levées, à les supposer assez solides, contre une vague de 17 pieds d'élévation au-dessus du niveau moyen de la mer? Le flot remonta de Meharpore à Matabangha, et causa la mort de 50,000 personnes; il en aurait noyé beaucoup plus encore s'il fût survenu pendant la nuit et s'il eût, comme à Bakargandj, surpris les gens en plein sommeil.

D'ailleurs, il fit mourir indirectement 30,000 autres individus, la pourriture des cadavres non enterrés ayant suscité les fièvres pernicieuses, la variole, le choléra et autres maladies.

Un mois à peine après ce cataclysme sur l'Hougly, le 5 novembre, la côte du Kistnah, près du Masulipatam, fut ensevelie sous une vague, et 35,000 hommes périrent.

Le 31 octobre 1876, le flot engloutit subitement les embouchures du Gange et fit périr 100,000 personnes et autant d'animaux.

Le plus épouvantable fut celui du 31 octobre 1876.

Jusqu'à onze heures du soir, rien ne faisait pressentir de danger, et, dès avant minuit, sans le moindre

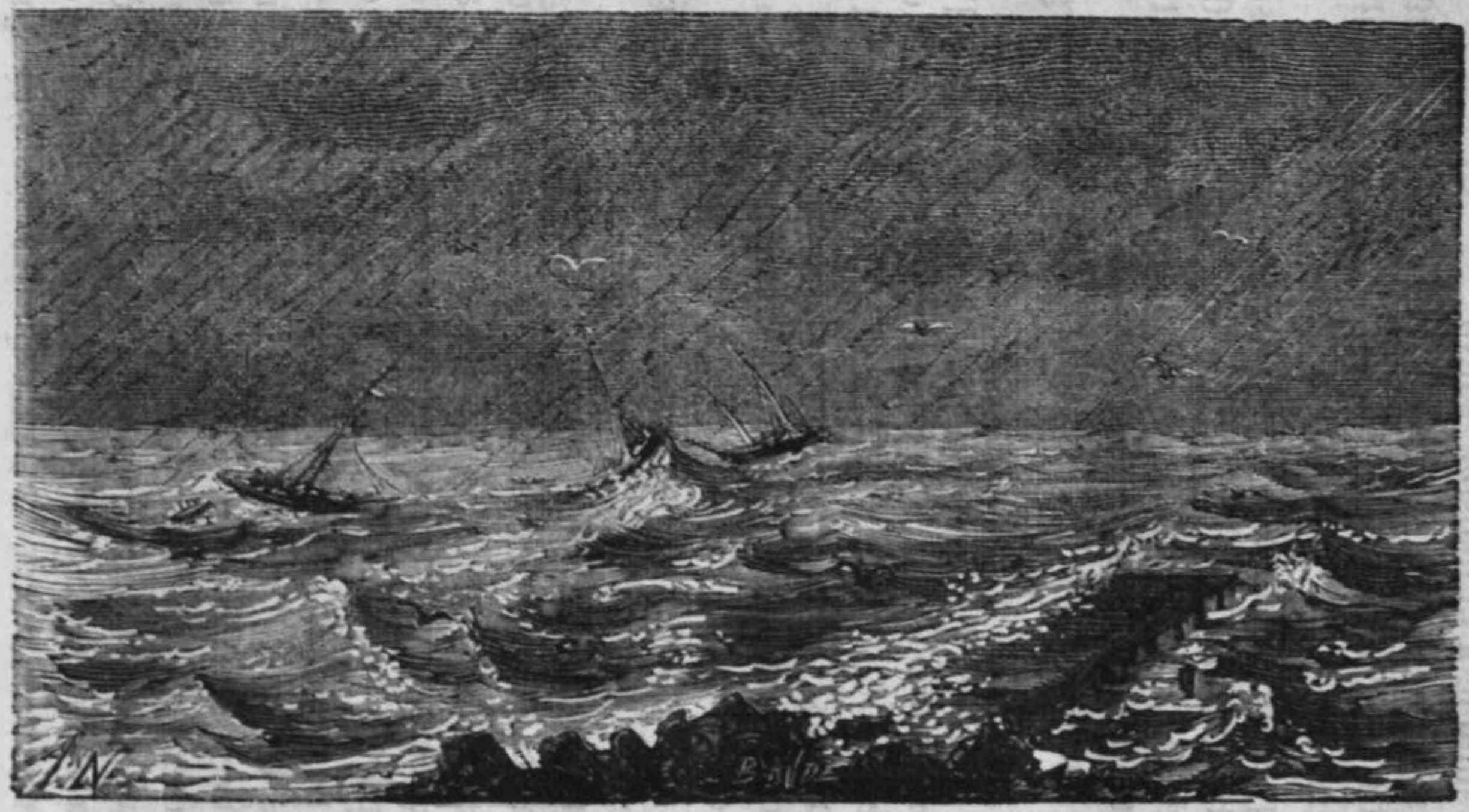

La mer pendant le typhon d'octobre 1876.

signe précurseur, la catastrophe éclata, surprenant tout le monde à la maison, au lit.

Trois vagues couvrirent un pays de 750,000 à 800,000 hectares, sur lequel vivaient 1 million d'hommes.

En quelques minutes, 215,000 êtres pensants sont emportés par le flot, ensevelis par lui : 215,000, c'est peu dire. La plupart des fonctionnaires dont on pouvait attendre des renseignements sérieux ont été noyés; mais on sait que telle ville, tel bourg a perdu 70 pour 100 de sa population.

Les malheureux insulaires eurent à peine quelques minutes pour parer à leur salut avant l'arrivée de la terrible vague, haute de 10 à 20 pieds. Au bout de deux heures, le flot commença à reculer, à redescendre; mais ce fut seulement dans l'après-midi du lendemain que les survivants purent quitter les branches des arbres, les lieux élevés, leurs diverses retraites.

C'est un bonheur qu'il y ait eu des bosquets de palmiers et de cocotiers autour de ces villages. Presque seuls ceux-là se sont sauvés qui avaient grimpé aux arbres; ceux qui s'étaient réfugiés sur les toits ont été emportés avec ce frêle asile, détachés des maisons par la poussée de l'eau... Tous les animaux périrent, tous les bateaux furent détruits; et comme les chars et voitures sont inconnus dans ces îles, on manque absolument de moyens de communication. La ville de Dowluktor fut entièrement détruite. Partout où la vague a passé, il n'est resté qu'un tiers de la population, ou même moins encore, et dans les îles rien qu'un quart.

## UNE CAUSE DE LA DOUCEUR DE L'HIVER DERNIER

M. Blavier a adressé à l'Académie des sciences un mémoire curieux pour expliquer la douceur exceptionnelle de la température de l'hiver de 1881 à 1882 et du commencement du printemps. Depuis deux ans, pen-

Pêcheuse de sardines.

dant la campagne 1880 et 1881, dit-il, la sardine a fait défaut sur le littoral de la Vendée. C'est un véritable désastre pour les intéressantes populations du

Pêcheur de Concarneau.

littoral, car la pêche à la sardine occupait plus de quinze mille marins et donnait annuellement un produit brut d'au moins quinze millions de francs.

La cause de cette coïncidence ne serait autre, selon

lui, que le délpacement du grand courant océanien d'eaux chaudes, le Gulf-Stream, dont l'influence prépondérante sur le régime climatologique du versant de l'Europe est aujourd'hui parfaitement reconnue. Les sardines, dans leur migration régulière, suivaient exactement le lit de ce courant dérivé du Gulf-Stream, connu sous le nom de Rennel, et c'est précisément parce que le Rennel a dû disparaître depuis l'hiver 1879-1880 que les sardines elles-mêmes ont pris une autre voie dans l'Océan pour accomplir leur évolution naturelle. La présence exceptionnelle dans la région du détroit de Davis de glaces qui ont obstrué le passage du courant polaire au large du banc de Terre-Neuve, là où il rencontre le Gulf-Stream, est la cause déterminante de la brusque inflexion de ce courant d'eau chaude vers les côtes de France.

« Si cette théorie est exacte, je puis, dit M. Blavier, prédire, pour l'année courante, un printemps sec et beau, un été également sec et très-chaud, et, dans ces conditions météorologiques, une récolte dont l'abondance dépendra exclusivement des orages qui viendront ou ne viendront pas, en temps utile, fournir au sol l'eau nécessaire pour la végétation. Je puis également prédire que nos marins ne verront malheureusement pas revenir encore cette année la sardine sur les côtes de la Vendée et de la Bretagne, car elle devra suivre dans sa migration annuelle le même chemin que pendant les campagnes précédentes, chemin qui n'est autre chose que le courant dévoyé du Gulf-Stream et du Rennel. Je puis annoncer que ces graves perturbations prendront fin seulement lorsqu'une débâcle normale des glaces des régions boréales rétablira le courant polaire du détroit de Davis, avec son intensité

ordinaire, puisque ce courant est le véritable régulateur de la voie suivie par son antagoniste, le Gulf-



« Je puis enfin dire que les observations régulièrement faites en mer à la fin de l'été, vers le mois

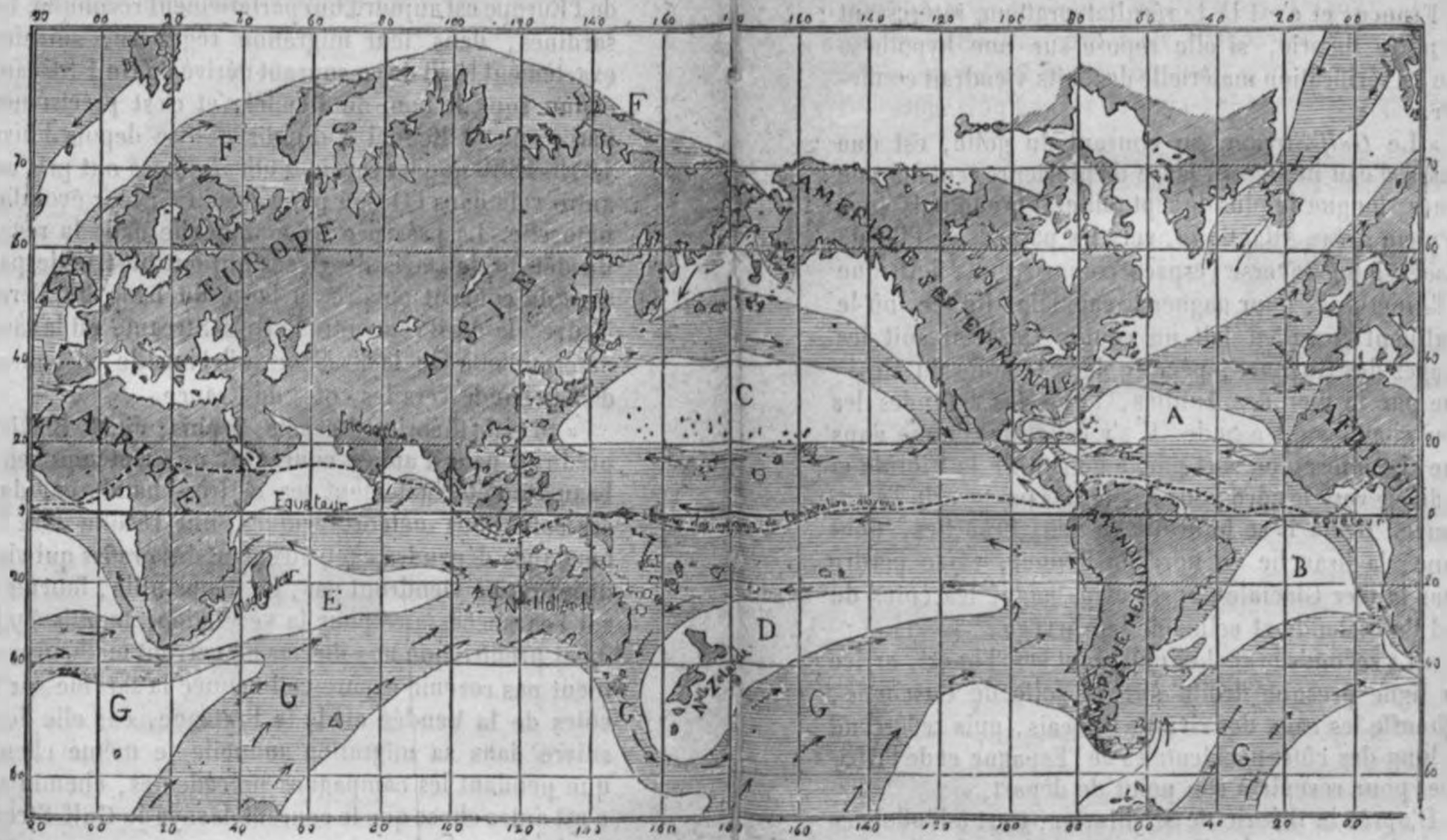


Carte des grands courants de la mer

Stream, dans la portion de son cours qui exerce une action directe sur notre climat.

d'octobre, par exemple, pour fixer exactement ce cours du Gulf-Stream, des côtes de l'Amérique aux côtes de

l'ancien monde, permettraient aux météorologistes d'indiquer à l'avance, avec quelque probabilité, le caractère dominant des saisons sur le littéral océanien de France, et c'est là le résultat pratique intéressant de notre théorie, si elle repose sur une hypothèse que la vérification matérielle des faits viendrait confirmer.

« Le *Gulf-Stream*, ou courant du golfe, est une masse d'eau immense, large de plusieurs centaines de lieues, longue de plus de sept mille. Il prend naissance en plein océan Atlantique, vers les parages de l'île de l'Ascension, traverse l'espace compris entre l'Afrique et l'Amérique, pour gagner le cap Saint-Roque, où le continent brésilien fait un coude. De là il suit les rivages des Guyanes, pénètre dans le golfe du Mexique par la mer des Antilles, l'une des latitudes les plus chaudes du monde. Il s'y échauffe comme dans une chaudière, en sort par le détroit de la Floride et se dirige vers le nord pour gagner les parages de Terre-Neuve. De là il se bifurque en deux branches, dont l'une, la branche du nord du Rennel, va se perdre dans la mer Glaciale, après avoir gagné les côtes du sud de l'Islande et celles de la Norvége.

« La seconde branche, obliquant vers l'ouest, arrive en ligne presque droite sur le golfe de Gascogne, échauffe les eaux des rivages français, puis redescend le long des côtes occidentales de l'Espagne et de l'Afrique, pour revenir à son point de départ. »

D'après la théorie de M. Blavier, c'est à l'influence d'un changement de direction de la branche du nord que serait due la douceur de notre dernier hiver.

## L'INSPIRATION

Mozart eut occasion de venir à Paris à l'époque où il s'occupait de son opéra de *Don Juan*. Un jour, après avoir travaillé plusieurs heures dans son cabinet, il jeta un coup d'œil sur sa montre.

— Déjà cinq heures ! s'écria-t-il avec surprise.

Son imagination planait dans les hautes sphères de l'idéal,

C'était l'heure à laquelle le maestro dînait habituellement. Il se hâte donc de s'habiller, et se dirige vers un restaurant du Palais-Royal ; mais, pendant le trajet, une nouvelle idée germe, se développe, grandit dans son cerveau. Elle le préoccupe, elle l'obsède, et c'est machinalement, par habitude qu'il parcourt la

carte que le chef de l'établissement vient lui présenter.

— Un potage au vermicelle !

Le potage est servi ; mais le meastro n'y touche pas. Dix minutes, un quart d'heure s'écoulent, et, tandis que sa tête fermente, que son imagination plane dans les hautes sphères de l'idéal et de la poésie, il ne s'aperçoit point que son potage se refroidit. Enfin, après une demi-heure de méditation, il se décide à rompre encore le silence :

— Une sole frite !

Le potage est remplacé par une sole bien fraîche, bien cuite à point, bien appétissante, et qui cependant ne peut attirer l'attention ni exciter la sensualité du musicien rêveur. — Six mets sont successivement demandés, servis et traités par le maestro avec une égale indifférence. Le serviteur est stupéfait des manières, des procédés, des allures de ce singulier consommateur ; mais il pense que ce serait peine perdue de lui adresser des observations ; car, se dit-il, c'est décidément un maniaque ou un fou. Deux heures se sont écoulées depuis l'arrivée de l'artiste, et, la tête appuyée sur ses mains, il n'est pas sorti une seconde de son état de méditation et de rêverie ; mais voilà que tout à coup son front se relève avec fierté, ses joues se colorent, ses yeux lancent un éclair de satisfaction et de bonheur, et après avoir vidé sa bourse sur la table, il fait un bond et quitte la salle en s'écriant :

— Enfin je l'ai trouvé !

Mozart venait de trouver, en effet, le finale du troisième acte de *Don Juan*, son chef-d'œuvre.

# PRÉDICTIONS POUR 1883.

JANVIER.

Le premier jour de l'an, Nostradamus, auteur de ces prophéties, saluera tous ses lecteurs et leur souhaitera bombances d'un bout de l'année à l'autre. Ceux

Quiconque naîtra sous le signe du Verseau sera voué à toute profession où l'on verse de l'eau.

qui auront le bonheur de lui serrer la main auront trop d'argent, trop d'enfants, trop de tout. — Heureux le brun qui se mariera le 7 à une femme blonde; il verra se réaliser pour lui le rêve du mari dans du

coton ; il sera bien vite gros et gras, dodu. — Quiconque, du sexe mâle, qui naîtra sous le signe du Verseau, au moment juste où le soleil entrera dans cette constellation, sera dans l'avenir voué aux professions de marchand de vin, de laitier, de garçon de bains, de toute profession où l'on verse eau !... — Un futur à qui sa future reprochera sa froideur répondra :

Le feu le plus couvert est le plus ardent.

## FÉVRIER.

C'est pendant ce mois que viendront au monde le

C'est pendant ce mois que naîtront le plus grand nombre de poissons.

plus grand nombre de poissons. — Un homme nerveux qui aura acheté une maison de campagne près d'une scierie de marbre, en perdra toutes ses dents d'agacement. — Une très-jolie demoiselle ayant épousé un très-vilain mais très-riche monsieur ne le regardera

Le 23 mars commencera la grève des belles-mères.

plus qu'à travers une pièce de cent francs. — Elle le trouvera alors beau comme Antinoüs. — Le futur, devenu un peu pressant et familier, recevra des reproches de sa belle-maman. — Pour s'excuser, il lui dira :

Il ne faut pas mettre les estoupes auprès du feu.

MARS.

Le 3 mars, un ami du futur lui reprochera
D'être plus chaud que braise.

— Ceux qui naîtront le septième jour de l'entrée du soleil dans la constellation du Bélier feront bien de rester célibataires. — L'homme à cheveux rouges à qui la fortune aura souri le 3 et le 7 de ce mois fera bien d'aller à Monaco... — Un gros spéculateur qui aura bu un bouillon à la Bourse avouera ingénument qu'il aurait préféré un bon bouillon Duval... — Le 23 de ce mois, grande grève des belles-mères. — Elles se refuseront à tourmenter leurs gendres. — Un sous-chef de bureau bien rangé sera très-perplexe : il aura prêté à son chef une opinion qu'il n'avait pas lui-même.

AVRIL.

Le 8 avril, une noce tout entière sera conduite au

Ceux qui naîtront durant ce mois seront forts comme des Turcs.

violon... ce n'est pas celui-là qui la fera danser. —

Une curieuse métamorphose sera signalée à l'Académie : un oncle sera transformé en vache à lait par son polisson de neveu. — L'Académie des sciences déléguera une sous-commission pour examiner ce cas curieux. — Tous les enfants nés pendant le passage du soleil dans la constellation du Taureau seront forts comme des Turcs. — Par contre, les enfants des Turcs deviendront forts comme des Francs. — L'amoureux embrassera vivement et chaudement sa future pour cette raison que

L'union fait pour c'on le leiche.

MAI.

Les mariés qui auront été unis sous la constellation

Le monsieur se dira botaniste.

des Gémeaux auront beaucoup d'enfants... deux par deux. — Un jaloux dira à l'amoureux : Dans le mariage,

Prends garde, plus d'aloès que de miel.

Un parrain né sous la constellation du Grand Chien le sera toute sa vie. — La marraine, mariée sous celle de la Grande Ourse, sera peu abordable. — Un porteur d'eau surpris en ribote sera condamné pour n'avoir pas su se contenter de boire son fond. — Un monsieur traîné devant les tribunaux se dira botaniste, sous le prétexte qu'il aura cultivé la gille à cinq feuilles sur les mignonnes joues de madame. — Une vieille femme trouvera que les jeunes messieurs qui suivent les femmes sont bien *rococos*.

### JUIN.

Un ivrogne sera tout étonné de perdre les boutons de sa chemise et d'en gagner sur son nez. — Les bas

Les raisonnements de l'orateur seront si serrés qu'il ne pourra s'en dépêtrer.

bleus naturalistes arboreront une cocarde couleur *chose* d'oie. — Un reporter, à bout de ressources, mangera aux petits pois les canards de son journal. — Les raisonnements d'un orateur seront si serrés qu'il ne pourra s'en dépêtrer. — L'amoureux qui viendra d'hériter d'un vieil oncle en deviendra tout fier : Or qui a, a voult, dira-t-il. — Les voisines mariées sous le signe du Cancer auront des maris bêtes, mais vei-

nards. Petit Robert s'oubliera au lit le 8 juin, et pendant qu'on le fouettera, il avouera que la faute est à saint Médard.

JUILLET.

Ils auront le courage du lion, ceux que leur mère aura enfantés ce mois-ci. — Un monsieur très-pieux

Il se refusera de boire dans une tasse à thé.

se refusera de boire dans une tasse à thé. — Un poète sera jaloux d'un feu de peloton : il le trouvera bien nourri, lui. — Un bossu se redressera dans son orgueil. — Les jardiniers sèmeront les carottes que leurs neveux tireront. — Un quidam sera saisi par les

gardiens de la paix pour cause de méchanceté : il aura battu la semelle. — Un cavalier du 40e chasseurs sera médaillé pour avoir refusé de boire dans un verre à pied. — Un rigide parrain déshéritera son filleul pour le punir d'avoir entretenu... des illusions.

## AOUT.

A une dame à l'été de la vie, qui se plaindra d'une

Le galant répondra que c'est un sourire figé sur sa figure.

ride, un galant répondra que c'est un sourire figé sur sa figure. — Un oculiste deviendra célèbre pour avoir opéré la cataracte du Niagara. — Un peintre, qui sera d'une inactivité dévorante, n'arrivera pas à temps pour décrocher le prix du Salon. — Un monsieur sera puni pour fait de séquestration arbitraire : il aura fait rentrer quelqu'un à cent pieds sous terre. — Un chef de bureau sera destitué pour avoir été trop vif. — Sous le signe zodiacal de ce mois s'amoindrira le nombre des vierges à marier.

### SEPTEMBRE.

L'astrologue lit dans les cieux que ceux qui naîtront, mâles et roux, le troisième, le sixième et le neuvième jour de l'entrée du soleil dans la constellation de la Balance, seront condamnés plus tard à se servir de celles de la Justice, ou, à leur défaut, de celles

A défaut de balances de la Justice, ils se serviront de celles de l'épicerie.

de l'épicerie. — Un auteur dramatique sera condamné à six mois de prison pour avoir volé de succès en succès. — Un député orateur, mais bossu, sera tout heureux et tout fier d'avoir perdu son do..., quoique resté en détresse au milieu d'une ronflante période. — Un orateur du Sénat recevra une médaille de sauvetage : il aura empêché un de ses collègues de se noyer dans un flot d'éloquence.

### OCTOBRE.

Un bohème qui voudra savoir la valeur de sa montre la portera au mont-de-piété, et pour en con-

naître la saveur, il la croquera au cabaret. — Un monsieur qui jouira d'une mauvaise réputation dira qu'ayant été vilipendé quand il se présentait aux élections, il en est resté quelque chose. — Un aveugle dira que s'il est gai pendant qu'on lui parle, c'est qu'un agréable causeur lui fait oublier son infirmité.

Le bohème la croquera au cabaret.

— Un sourd grognera que s'il est triste dans la même circonstance, c'est que cet agréable causeur lui rappelle la sienne. — Les belles-mères nées sous l'influence de la constellation maîtresse de ce mois seront de véritables petits scorpions.

NOVEMBRE.

Tout homme né pendant ce mois sera un habile tireur d'arc. — Toutefois, il aura beau s'agiter, il n'attrapera jamais la fortune. — Le député Tout à l'œil,

ayant voté le divorce, épousera une femme qui le fera marcher droit. — Le jeune héritier d'un gros financier fera arracher tous les choux du jardin paternel, dans la crainte d'y trouver des petits frères qui

Rêve du député Tout à l'œil, le jour où il a voté le divorce.

viendraient lui rogner son héritage. — Un monsieur qui aura trop vivement remercié sera appelé monstre de reconnaissance. — Un pédicure sera salué grand musicien : il aura donné l'hallali avec le cor qu'il viendra d'extirper au maître du château.

DÉCEMBRE.

Tout fille née sous le signe du Capricorne aura la beauté et l'agilité de la chèvre. — Un député enterré

Le coup de pistolet le dernier jour de l'année.

trop tôt se réveillera et fera un bruit épouvantable. — On le conduira au poste pour tapage nocturne. — Un réserviste pratiquant refusera de monter sa garde le vendredi avec un fusil Gras. — Un gendarme, par comble de cruauté, empêchera l'eau de dormir. — Un neveu acquerra une grande réputation d'homme hospitalier, parce qu'il aura recueilli une succession. — Le comble de la propreté sera, le dernier jour de l'année, d'essuyer un coup de pistolet.

## UN ENRAGÉ PARIEUR

Si les Anglais sont d'enragés parieurs, les Russes ne leur cèdent en rien sous ce rapport. Aussi les histoires de paris défrayent-elles souvent la conversation en Russie. S'il faut en croire *Fridolin*, en voici une

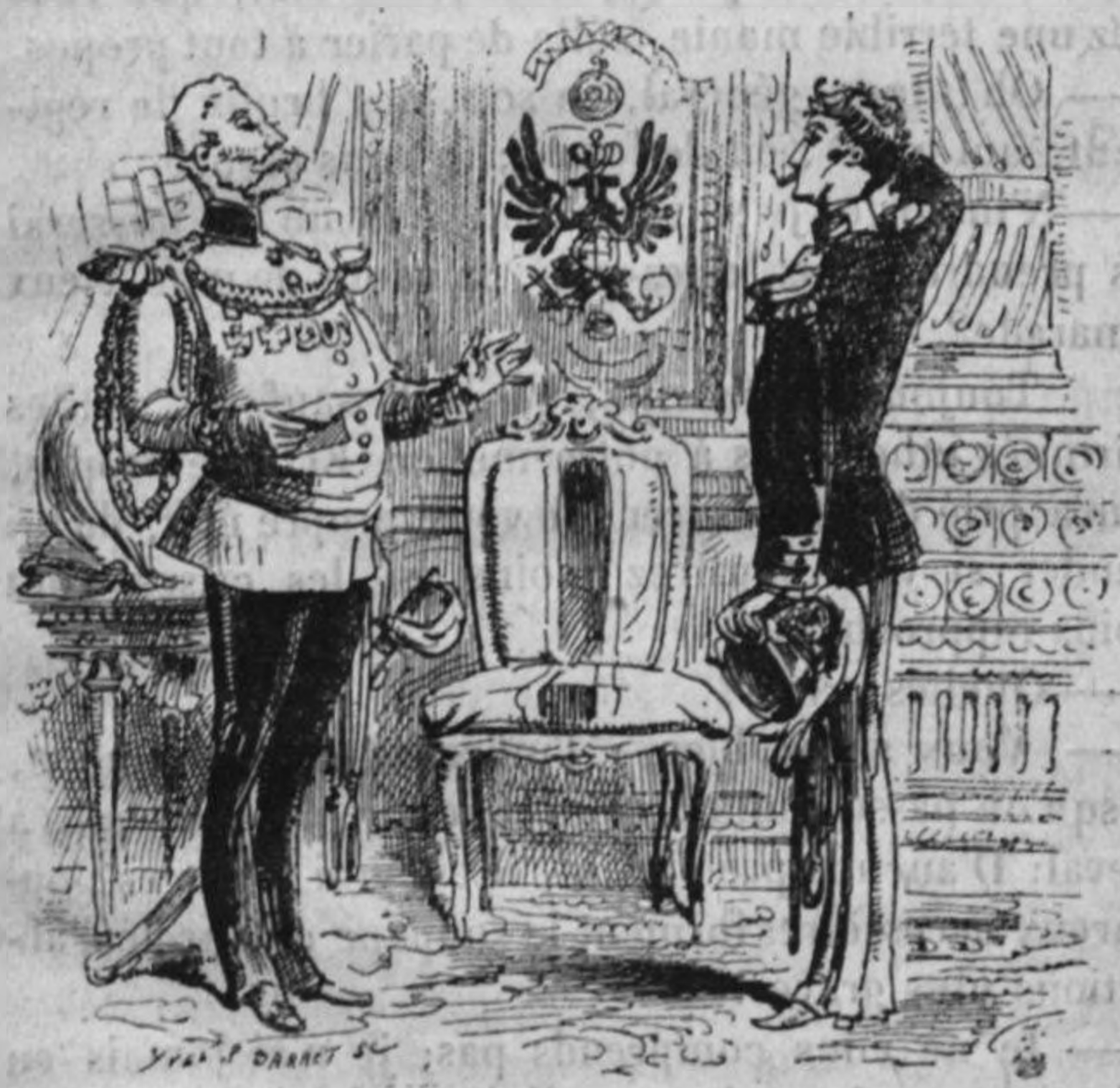

— Oh! mon général, c'est un bruit des régiments.

arrivée au général Dourakine, le général légendaire, le général Calino de la société moscovite.

Le général reçoit un jour la visite d'un jeune officier qu'on venait de lui attacher en qualité d'aide de camp.

Celui-ci était porteur d'une lettre de recommandation d'un autre général. La lettre était pressante,

faisait un grand éloge du jeune homme, mais se terminait par cet avertissement :

« Je dois te prévenir, cependant, que mon protégé est le plus grand parieur que je connaisse. Tu es averti ; tiens-toi sur tes gardes. »

— Voilà qui est très-bien, dit le général Dourakine ; seulement il paraît, mon jeune ami, que vous avez une terrible manie, celle de parier à tout propos.

— Oh ! mon général, ce sont des bruits de régiment, qui n'ont rien de fondé ; je vous assure...

— N'importe ! je suis prévenu, et je ne me laisserai pas prendre. Mais, dites-moi, la santé de mon vieux camarade?

. Toujours excellente, général, sauf les petites infirmités inhérentes à notre métier. Et à ce propos, il m'a prié de le rassurer sur votre propre état, de lui mander si vous souffrez moins, si les crises sont moins rapprochées.

— Quelles crises?

— Vous savez bien : l'infirmité si incommode, lorsqu'on passe comme nous la moitié de son temps à cheval. D'aucuns prétendent, il est vrai, que ces douloureux accessoires forment la soupape de sûreté d'affections plus graves.

— Je ne vous comprends pas; je n'ai jamais eu de ces accessoires, de ces soupapes de sûreté.

— Ne vous en défendez pas, général ; mon ancien chef parlait souvent de votre infirmité ; il vous plaignait de tout cœur.

— Voilà qui est trop fort. Écoutez, monsieur, nous aurons de longues chevauchées à faire ensemble ; je ne veux pas qu'il reste de doute dans votre esprit. Nous sommes seuls..., veuillez constater vous-même.

Après inspection, l'aide de camp se confondit en

excuses. On l'avait induit en erreur; c'était un faux bruit qu'on avait fait courir, il en écrirait le jour même à son ancien chef.

Quelques jours après cette exhibition, le général Dourakine recevait une lettre ainsi conçue :

« Animal,

« Je t'avertis, je te mets en garde contre ton nouvel aide de camp; je te dis que tu as affaire au plus grand parieur de la terre.

« Et tu tombes en plein dans le piége.

« Cet officier avait parié avec moi qu'à la première visite qu'il te rendrait, tu lui montrerais... ce que la pudeur la plus élémentaire défend de montrer.

« C'est cinq cents roubles que tu me fais perdre. »

## CONGRÈS DU PALAIS DU TROCADÉRO A PARIS

Au congrès international d'hygiène, au palais du Trocadéro, sous la présidence de l'honorable Théophile Roussel, député et docteur, a été discutée la question de l'allaitement artificiel des nouveau nés. M. le docteur Mallet, de la Faculté de Paris, rapporteur, s'est exprimé en ces termes : « Après avoir essayé de toutes « les variétés de biberons, je me suis arrêté au Bibe- « ron-Robert, qui remplit toutes les conditions néces- « saires pour l'élevage des enfants et qui m'a été re- « commandé par un grand nombre de docteurs, parmi « lesquels MM. les docteurs Maurin, Bertherand, « Zabé, Mezières, Laurent, etc., etc. Depuis que je « fais usage du Biberon-Robert dans ma clientèle, la « mortalité des nourrissons a considérablement di- « minué. »

Avis à l'imprudente mère qui, pour la santé de son enfant, ne se procurera pas un véritable Biberon-Robert en lisant sur le flacon et le bouchon (Robert).

# PETITE REVUE INDUSTRIELLE
## ET SCIENTIFIQUE

---

### LES ORIGINES DE LA BIÈRE

On sait que la légende attribue la découverte de la bière à Gambrinus, roi de Brabant; mais cette légende, ainsi que beaucoup d'autres, ne repose sur rien de sérieux. Ce qu'il y a de certain, c'est que la bière, ou tout au moins une boisson qui s'en rapprochait beaucoup, était connue depuis la plus haute antiquité. Eschyle et Sophocle la mentionnent sous le nom de *vin d'orge*. Les Egyptiens la connaissaient également, et la ville de Péluse était célèbre pour la fabrication de ce breuvage, que l'on additionnait d'une petite quantité de miel, et que l'on trouvait alors plus enivrante que toute autre espèce de vin.

Les Romains faisaient usage d'une bière que Pline appelle *cerevisia*, et qui, selon lui, était faite de blé, d'orge et autres grains fermentés; mais elle ne contenait pas de houblon. Malgré l'absence de houblon dans sa composition, il est bien évident que c'est la bière que nous buvons aujourd'hui, avec des procédés de fabrication et surtout de falsification plus ou moins perfectionnés.

Sous le règne de Charlemagne, le houblon commença à être employé et remplaça généralement la boisson d'orge fermentée des anciens; ce ne fut cependant qu'au douzième siècle que le houblon entra exclusivement dans la composition de la bière. A cette époque, la production était presque exclusivement confinée dans les couvents.

La première bière *blanche* fut brassée à Nuremberg par Hans Kraene, et la première *Braunschweiger Mumme* le fut à Brunswick, en 1492, par Christian Mumme. Les brasseries ne tardèrent pas à se répandre sur toute la surface de l'Allemagne, et constituèrent à la fois une industrie importance et lucrative, et la boisson en quelque sorte nationale.

L'Angleterre possède également des brasseries très-importantes de bières particulières au pays, comme le *porter*, l'*ale* et le *stout*. C'est à Handwood que l'on doit le *porter*.

La France n'a pas d'espèce de bière qui lui soit absolument propre, par la raison que pendant longtemps la consommation en a été restreinte à certaines provinces du Nord et de l'Est qui ne possédaient que peu ou pas de vignes, et que les procédés de fabrication ont été empruntés à l'Allemagne ou aux Flandres.

Aux Etats-Unis, il se fabriqué également des quantités assez considérables de bière; mais la production est bien loin d'égaler celle de l'Allemagne. Le houblon américain est excellent et se paye, notamment sur les marchés anglais, un prix fort élevé; c'est probablement la raison pour laquelle les brasseurs américains usent le moins possible de ce produit; ceux de Chicago mélangent à l'orge une forte proportion de riz pour augmenter la légèreté de cette boisson; d'autres remplacent l'orge par le maïs.

En dépit des croisades entreprises par les sociétés de tempérance, le goût de la bière se répand de plus en plus aux Etats-Unis. Ce résultat tient sans doute en grande partie à la régularité avec laquelle l'émigration allemande aux Etats-Unis continue à se maintenir à des chiffres très-élevés, important avec

elle ses mœurs et ses habitudes, au premier rang desquelles se place l'usage de la bière; mais la facilité avec laquelle les fabricants trouvent le placement avantageux de leurs produits n'est pas non plus indifférente au développement considérable atteint par l'industrie de la bière aux Etats-Unis.

## LA FRAUDE DU SEL

Le sel, quand il est exposé à l'humidité, gagne du poids au préjudice du consommateur; celui-ci se trouve alors payer l'eau au même prix que le sel.

Le sel ne doit pas contenir normalement plus de 8 pour 100 d'eau.

On peut vérifier si, sous ce rapport, le sel est vraiment de qualité marchande en faisant dessécher une certaine quantité, 50 ou 100 grammes, par exemple, dans une étuve à la température de 30 à 40 degrés.

On pèse le sel après dessiccation, et la perte du poids indique la quantité d'eau. Si cette quantité excède le chiffre de 8 pour 100, on peut être assuré qu'il y a eu fraude, c'est-à-dire mouillage artificiel du sel.

## MOYEN DE NETTOYER LES MEUBLES VERNIS ET DE LEUR RENDRE LEUR BRILLANT

Il suffit de mélanger 1 tiers d'huile d'olive à 2 tiers d'essence de térébenthine, d'étendre ce mélange avec un chiffon, et de frotter jusqu'à siccité. Puis avec une peau bien sèche on donne un dernier coup, et le meuble a repris à peu près complétement le brillant du neuf.

## BOMBARDEMENT D'UNE MONTAGNE

Le canon devenant un instrument de préservation, c'est ce qui ne s'était pas vu souvent.

C'est pourtant ce qui s'est produit en Suisse, où l'on a bombardé une montagne appelée le Riskopf, de façon à sauver ce qui restait du village d'Elm, à moitié détruit par des éboulements.

Il fallait pour cela une autorisation légale.

Les convocations n'avaient pu être adressées aux députés qu'au dernier moment, la veille de la réunion; mais on a passé sur cette question de forme, car il n'y avait pas de temps à perdre, les habitants d'Elm ayant insisté pour que l'opération fût commencée, si elle devait avoir lieu, le plus tôt possible.

Un point très-délicat était la fixation des indemnités à accorder aux propriétaires de biens-fonds que devaient atteindre inévitablement les débris que le canon ferait pleuvoir sur la plaine, et qui peut-être eussent été épargnés sans cela. Heureusement ces propriétaires ont déclaré se contenter de l'indemnité qui leur eût été accordée dans le cas où le nouvel éboulement aurait été la conséquence d'un éboulement naturel, au lieu d'être amené par le bombardement.

L'opération a donc eu lieu. On a lancé des obus et des boulets pleins sur le Risikopf, mais sans produire grand effet. Une faille immense qui existait sur un des côtés de la montagne a été élargie, mais les éboulements déterminés ont été sans conséquence. C'est seulement à la fin de l'hiver de 1882-1883, c'est-à-dire à la fin des gelées d'hiver, que ce qui reste de la montagne pourra bien s'écrouler.

## UN DANGER QUE PRÉSENTENT LES SIPHONS D'EAU DE SELTZ

Tout le monde sait bien qu'il faut se défier des siphons d'eau de Seltz que par la grande chaleur on apporte de la cave à la salle à manger. Le gaz peut se dilater brusquement et faire éclater le flacon de verre. Le cas est rare, car les siphons sont essayés à des pressions de douze atmosphères; mais enfin, l'état moléculaire du verre peut se modifier à la longue et sa résistance diminuer. Nous demandons la permission d'appeler l'attention aujourd'hui sur un autre cas d'explosion très-peu connu, si même il a été déjà indiqué.

Un flacon nous a éclaté entre les mains; nous pouvons donc en parler en connaissance de cause.

Il pourrait arriver à quelqu'un de songer à rafraîchir un siphon en le plaçant dans un seau plein d'eau très-fraîche, d'eau de puits, par exemple, ou même dans de l'eau glacée. Dans ce cas, il peut y avoir danger d'explosion : 1° si le siphon n'est pas plein; 2° si l'eau glacée ne s'élève qu'au quart ou à la moitié de la hauteur du syphon.

En effet, dans ces circonstances spéciales, la partie du flacon trempée dans l'eau est brusquement portée à une basse température; il y a contraction de cette région; l'équilibre est rompu, et le verre se brise. En même temps peut-être l'eau froide condense le gaz intérieur; il y a aussi de ce chef brusque variation de pression à l'intérieur, et le flacon peut se briser.

Il importe, quand on veut rafraîchir un siphon, de le plonger brusquement et tout entier jusqu'à la partie supérieure dans l'eau froide, et il est bon aussi de ne refroidir que les siphons pleins; on évitera ainsi un accident qui peut devenir grave, car quand un siphon

éclate, il se brise et se fend en un très-grand nombre de morceaux, qui peuvent atteindre les yeux ou d'autres organes essentiels. On le voit, si la chaleur peut briser un siphon, le froid peut tout aussi bien être à redouter. Avis aux intéressés.

## UNE HOUILLÈRE EMBRASÉE

On a plusieurs exemples de houillères qui ont pris feu et dont l'exploitation a dû être abandonnée. En France, la houillère de Commentry, dans le département de l'Allier, a été le théâtre d'un incendie éteint à la suite de travaux extraordinaires. En Allemagne existent des houillères en feu qui brûlent depuis des années, sans que l'on puisse éteindre le feu.

En Amérique, dans un des districts miniers de la Pensylvanie, brûle depuis cinq ou six ans une mine d'anthracite, charbon plus dur que la houille ordinaire.

L'origine de cet incendie inextinguible est assez curieuse. Une femme expulsée de Pittston, au commencement de 1877, s'installa dans une grotte aux environs de la ville. Elle y faisait du feu pour cuire ses aliments. Une nuit, elle fut réveillée par une clarté extraordinaire, et s'apercevant que tout un côté de la grotte était embrasé, elle prit la fuite.

C'est seulement au mois de juin de la même année que la conflagration souterraine fut découverte; il fut impossible de l'éteindre. Pendant plusieurs mois, les ouvriers continuèrent de travailler dans une veine qui serpentait au-dessous du foyer de l'incendie, et bien qu'ils en fussent séparés par une épaisseur de roche de 20 mètres, la chaleur devint bientôt si insupportable que les travaux durent être abandonnés.

L'incendie dure toujours, et les flammes menacent

de se communiquer à des mines voisines, et le danger deviendrait surtout redoutable s'il gagnait des massifs laissés en réserve, parce qu'ils correspondent aux fondations de villes ou de villages. Dans ce cas, les habitants devraient émigrer.

## LE PRIX COUTANT DE LA GUILLOTINE

Si l'on veut savoir combien peut coûter ce terrible instrument d'expiation, dont l'action est censée résumer les conditions les plus parfaites de précision et de rapidité, voici, à titre de curiosité, une pièce que l'on a bien voulu nous communiquer.

C'est le devis des dépense occasionnées par la construction de la machine qui fonctionne actuellement.

| | |
|---|---|
| La charpente de la machine et celle du plancher sur lequel elle est posée ont coûté | 1.200 fr. |
| Les ferrures, | 500 |
| Les deux couperets, | 500 |
| Les deux poulies et les rainures en cuivre de fonte, | 900 |
| Le mouton en fer forgé, | 550 |
| Deux paniers d'osier destinés à recevoir le corps du supplicié, | 400 |
| Deux cuvettes en zinc pour recevoir la tête, | 300 |
| Les cordages, | 60 |
| Total, | 4.410 fr. |

Cette note, dont les divers articles étaient taxés à un prix exagéré, fut soumise à une commission chargée d'examiner la machine et son prix de revient.

La commission frappa la note d'une réduction de 1,132 fr., soit un peu plus de 25 0/0.

La guillotine, telle qu'elle existe aujourd'hui, aurait donc coûté 3,278 fr.

## LE PHONOGRAPHE PRÉDIT

On a trouvé dans les œuvres de Condorcet, de Diderot, des passages qui permettent de supposer que ces philosophes ont eu comme un pressentiment du rôle que l'électricité et la mécanique ont été appelées à jouer plus tard pour la transmission de la pensée. Un journal a publié un fragment très-curieux d'un article publié, en 1847, par Théophile Gautier, dans lequel ce charmant écrivain prophétise en quelque sorte le phonographe. Voici ce fragment :

« Un jour peut-être, lorsque la critique, perfectionnée par le progrès universel, aura à sa disposition des moyens de notation sténographique pour fixer toutes les nuances du jeu d'un acteur, n'aura-t-on plus à regretter tout ce génie dépensé au théâtre, en pure perte, pour les absents et la postérité. De même qu'on a forcé la lumière à moirer d'images une plaque polie, on parviendra à faire recevoir et garder, par une matière plus subtile et plus sensible alors que l'idole, les ondulations de la sonorité, et à conserver ainsi l'exécution d'un air de Mario, d'une tirade de Mlle Rachel ou d'un *couplet* de Frédérick Lemaître; on conserverait de la sorte, suspendues à la muraille, la *serenata* de don Pasquale, les imprécations de Camille, la déclaration d'amour de Ruy Blas, daguerréotypées un soir où l'artiste était en verve. — Quel dommage pour Talma et Malibran d'être venus si tôt! »

L'article duquel est tiré ce passage a paru dans la *Presse* du 25 mai 1847.

## DERNIERS MOMENTS D'UN PENDU

En Amérique, être pendu est une affaire pas précisément semblable aux autres, il est vrai, mais quelque peu traitée comme telle.

Voici de curieux détails sur l'exécution d'un nommé Augustin Johnson, pendu dernièrement pour avoir tué un nègre :

Arrivé devant l'échafaud, le condamné Johnson a demandé quelque chose à boire, et un prêtre lui a donné une bouteille pleine d'eau bénite. Il en a bu une gorgée, a fait une grimace de dégoût et jeté la bouteille sous l'échafaud en criant : « Moi qui m'imaginais que c'était du gin ! »

Après cette scène peu édifiante, les prêtres ont commencé les prières en engageant le patient à les répéter ; mais il a déclaré positivement qu'il ne les répéterait qu'à condition d'avoir d'abord un verre de wiskey, qui lui a été donné.

Les prières achevées, il a réclamé un autre verre, et comme on le lui refusait, il s'est adressé au juge, qui a ordonné de lui accorder cette dernière faveur.

Il a ensuite allumé un cigare, et il est monté sur l'échafaud, accompagné de quelques amis, dont l'un, à sa requête, a ouvert son cercueil afin de lui en faire voir l'intérieur, qu'il a examiné en souriant.

En réponse à la demande du shérif, s'informant s'il voulait parler avant de mourir, il a déclaré qu'il lui fallait avant tout une bonne chique de tabac. C'était la troisième depuis sa sortie de prison, car il fumait et chiquait tout à la fois. Ensuite, il dit d'une voix retentissante :

« Je veux que tout le monde m'entende. Je vois ici

des gens aussi serrés que les pailles dans une meule, et je sais qu'il y a dans cette foule des amis venus pour me délivrer. Mais je leur demande de n'en rien faire. Le shérif a été bon pour moi, et c'est moi-même

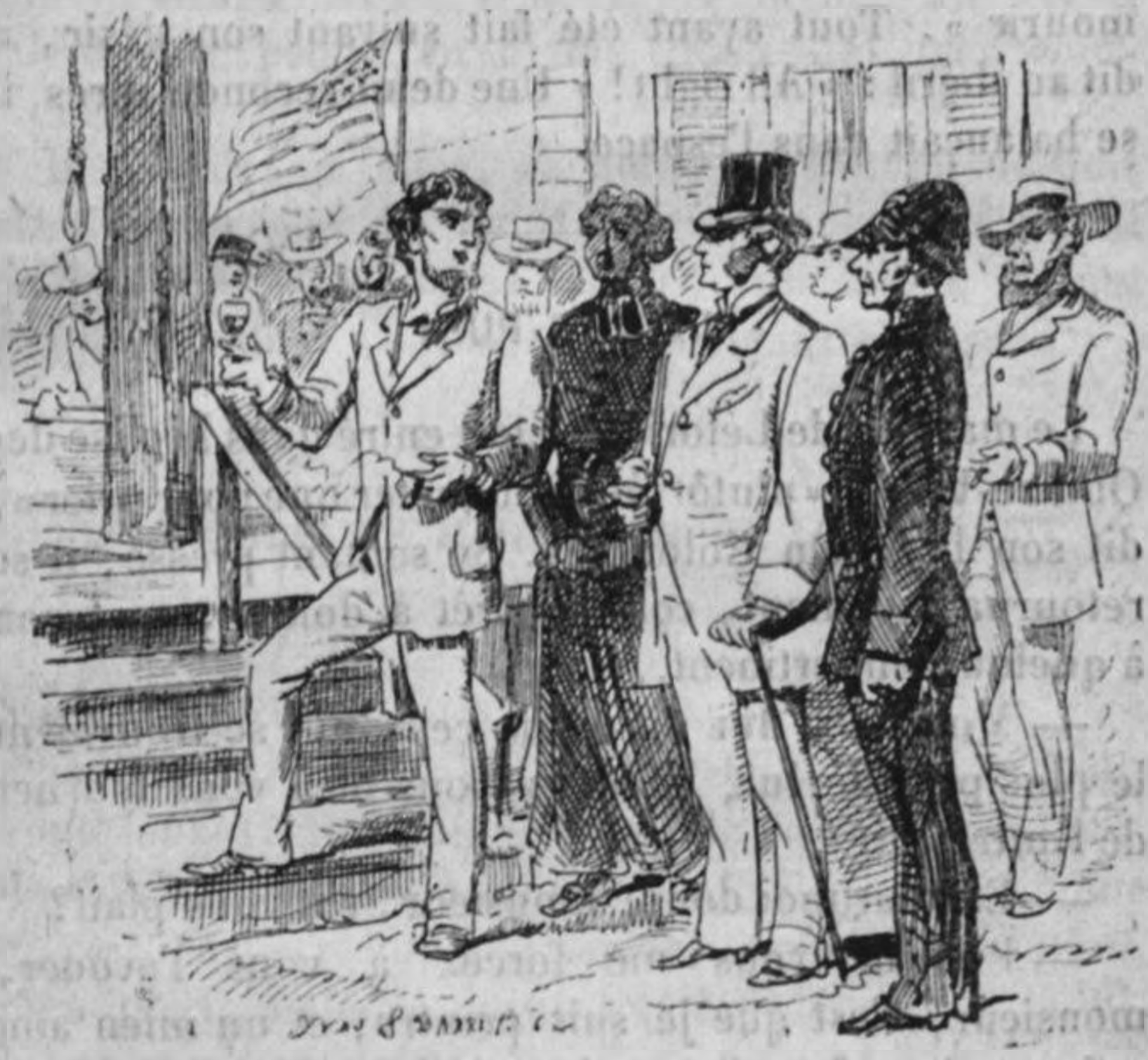

— Moi qui m'imaginais que c'était du gin !

qui l'ai prié de me pendre de ses propres mains. »

Cet exorde a été suivi d'une énumération de ses meurtres. Il en était au quatrième, et il racontait comme quoi il s'était assuré l'impunité, en payant 25 dollars au sollicitor général, quand un de ses amis lui a fait observer qu'il avait assez parlé, et qu'en continuant à bavarder il finirait par compromettre des camarades.

Johnson n'a pas insisté, et s'adressant au shérif, il a exigé que la corde fût allongée, afin de produire une secousse plus forte et la dislocation du cou. Il n'a pas voulu que le bonnet noir fût rabattu davantage devant son visage, attendu qu'il tenait à se « voir mourir ». Tout ayant été fait suivant son désir, il dit au shérif : « All right ! » Une demi-seconde après, il se balançait dans l'espace.

---

## LE FAT PUNI

Le marquis de Létorières était entré dans l'église des Quinze-Vingts « plutôt pour mugueter que pour prier », dit son historien Colombey. Se sentant pressé, il se retourna vivement, comme prêt à donner une leçon à quelque impertinent.

— Monsieur, lui dit un de ceux qui se trouvaient le plus près de lui, voudriez-vous bien vous tourner de l'autre côté?

— Et pourquoi donc, monsieur, s'il vous plaît?

— Puisque vous me forcez à vous l'avouer, monsieur, c'est que je suis peintre, et un mien ami qui est dans la tribune de gauche, chargé de faire votre portrait par une jolie dame qui vous veut grand bien, me fait signe sur l'attitude dans laquelle il voudrait vous saisir.

Le marquis remarque, en effet, un homme qui avait les yeux sur lui, et tenait un crayon à la main. Très-flatté au fond de l'aventure, il prend la pose qu'il juge le plus propre à l'épanouissement complet de ses grâces.

— Monsieur, je vous suis bien obligé, lui dit le

quidam quelques instants après. Mon ami me fait signe qu'il a terminé son croquis et que vous pouvez quitter cette position gênante. C'est fait.

— Parbleu! votre ami est un homme de grand talent et expéditif en diable. Faites-lui mes compliments.

Il y avait, en effet, de quoi. Le pauvre marquis avait perdu peu de temps, mais beaucoup d'argent qu'il portait sur lui, sa montre, ses bijoux et tout ce que le voleur avait pu saisir pendant sa pose.

---

## LA CIGALE, LE HANNETON ET L'ESCARBOT

La *Nouvelle Revue* a publié dernièrement six fables inédites, attribuées à la Fontaine; elles sont précédées d'une dédicace à Louis XIV, extraites d'un manuscrit appartenant à M. Louis Ménard. Ce manuscrit provient de la bibliothèque du cabinet du Roi, qui fut, comme on sait, dispersée un peu partout après la Révolution, bien que la majeure partie eût été déposée à la Bibliothèque nationale. Voici l'une de ces fables :

La Cigale et le Hanneton
Contractèrent jadis un mariage ensemble.
Et comme pour un jour, dit-on,
Tout hymen à l'amour ressemble,
Le leur eut d'abord la beauté
Qui suit tousjours la nouveauté.
L'espoux trouvoit l'espouse belle,
Comme elle le trouvoit charmant.
Ce n'estoit que transport et que ravissement.
Ils se juroient une ardeur éternelle,
Et croyoient tenir leur serment.
Mais tels sermens se tiennent rarement.

Ce premier jour, qu'un long usage
A fait nommer communément
Le seul heureux du mariage,
Estoit à peine encor passé
Que le nouveau couple, lassé
De si longue paix domestique,
En interrompit la pratique.
Le Hanneton alloit souvent
Voir une Guespe, sa voisine :
Dame Cigale en eut le vent.
Pour moins, espouse se mutine.
Elle entre en féminin courroux,
Accuse le coquet époux
De fausser la foi conjugale.
Hanneton de s'enfuir, aux cris de la Cigale;
Elle de redoubler ses cris,
Luy de l'accuser de manie.
Adieu l'amour et les souris :
Au triste hymen ils faussent compagnie.
Le Hanneton, morne et transi,
Connoissant, mais trop tard, les travaux du ménage,
Va consulter sur son soucy
Un Escarbot du voisinage.
Cet animal n'avoit point son pareil :
Il décidoit de tout, en auditeur de rotte,
Et toute la gent escarbotte
N'agissoit que par son conseil.
— Compère, dit-il au mary,
Ce sont suittes de l'hyménée;
Vous n'estes pas le seul époux marry,
Qui déplore sa destinée.
Nous autres petits Escarbots,
Sur de pareilles aventures,
Entendons dire de bons mots,
A mesdames les Créatures.
Quand pour divertir son chagrin,
Un homme vient à son voisin
Faire, en se promenant, secrette confidence,
Luy conter ses douleurs et ses soupçons jaloux,
Dieu sçait si, pour avoir un témoin tel que nous,
Il en dit moins tout ce qu'il pense.
Escoutez ce que l'autre jour

J'entendis raconter à seigneur d'apparence :
— J'espousay, disoit-il, une veuve de France,
Des premières de cette cour.
Soit que pour témoigner un amour plus parfait,
Elle crust à propos de paroistre jalouse,
Ou qu'elle le fust en effect,
Tousjours quelque soupçon tourmentoit mon espouse,
Je n'avois plus un moment de repos;
Ni la moindre visite, ou le moindre propos,
Nostre jalouse avoit un reproche à me faire.
Un amant me tira d'affaire.
Il naquit certaine amitié
Dans le cœur de nostre moitié,
Plus fine d'un carrat que l'estime ordinaire;
Depuis ce jour, tout fut calme chez moy,
Je fus respecté comme un roy,
On ne songeoit plus qu'à me plaire.
Compère Hanneton, poursuivit l'Escarbot,
Si tu sais le secret d'entendre à demy-mot,
Fais ton profit de l'advis salutaire,
Laisse gronder ta femme tout le jour,
Ou si tu veux la faire taire,
Permets-lui de faire l'amour.
Dame trop prude, et beaucoup de raison,
Est un assortiment trop difficile à faire,
Et pour la paix de la maison,
Un peu d'intrigue est un mal nécessaire.

---

## WEBER ET LE CRITIQUE

Weber, le grand compositeur, dont les œuvres sont et seront toujours exécutées par les véritables amateurs de musique, était vivement critiqué par un journaliste dont les jugements étaient très-appréciés.

Ce journaliste était en quelque sorte l'ennemi de la gloire de Weber. Harcelé sans cesse, le musicien ne savait comment se défendre, et encore moins échapper

aux traits acérés du critique. Celui-ci s'appelait Müller.

Weber.

Or, voici ce qu'imagina Weber et qui lui réussit parfaitement.

Pendant une résidence de quelques jours qu'il fit dans un village aux environs de Munich, il envoya à toutes les gazettes allemandes un récit détaillé de sa mort, écrit de sa propre main. Personne ne douta de l'exactitude de cette nouvelle, et les journaux insérèrent la note en question, en l'accompagnant d'une pompeuse notice biographique; mais parmi les organes de la presse, la *Gazette de Leipzig* se distingua par la ferveur de son enthousiasme envers l'illustre défunt. L'article était signé et écrit par Müller lui-même, qui, désarmé par la mort du maestro et n'ayant plus aucun intérêt à l'attaquer, rendait enfin justice à l'artiste supérieur qu'il appelait « le prince des compositeurs de l'Allemagne ».

Quelques jours après, Weber fit démentir le bruit de sa mort, et, pour dissiper toute incertitude à cet égard, il vint lui-même à Leipzig. — Qui fut honteux et confondu à la nouvelle de cette résurrection? Ce fut Müller, qui se trouvait désormais enchaîné par ses propres éloges, et dans l'impossibilité de rétracter le jugement formulé en termes si explicites. Au reste, il s'exécuta de fort bonne grâce. Ses diatribes cessèrent complétement, et à la première représentation de *Freyschütz,* qui eut lieu quelque temps après, on remarqua notre critique parmi les plus chauds admirateurs du chef-d'œuvre de Weber.

# HYGIÈNE ET MÉDECINE

## LES BOISSONS ALCOOLIQUES ET LEUR INFLUENCE SUR LA SANTÉ PHYSIQUE ET INTELLECTUELLE DES POPULATIONS

Les boissons alcooliques que l'on consomme en France sont : le vin, le cidre, la bière, les eaux-de-vie et liqueurs.

Le vin est notre véritable boisson nationale; nous en consommons, en moyenne, depuis dix ans, 50 millions d'hectolitres par an, soit environ 120 litres par habitant. La consommation a suivi la production dans ses oscillations; mais dans l'ensemble, elle a augmenté progressivement depuis cinquante ans. Elle était de 55 à 60 litres de 1829 à 1833, et elle est aujourd'hui de plus du double.

Le vin n'est réellement une boisson courante que dans soixante-douze départements; encore, dans quinze de ces derniers, la consommation n'est-elle que de 38 à 80 litres; dans les cinquante-sept autres, on en consomme de 88 à 360 litres.

La consommation du cidre tend à diminuer : depuis vingt ans elle est descendue de 24 à 20 litres par tête, ce qui n'est que médiocrement à regretter, en raison de la mauvaise qualité des cidres; on boit aujourd'hui de l'eau-de-vie pour faire digérer le cidre, et plus on consomme de l'un, plus on absorbe de l'autre.

Il n'y a guère que neuf départements dans lesquels le cidre constitue la boisson courante et où la consommation dépasse 75 litres par tête; ils occupent notre frontière du nord-ouest.

La consommation de la bière a augmenté progressivement et sans temps d'arrêt depuis cinquante ans; elle n'était que de 3 litres 45 centilitres en 1829, et elle est aujourd'hui de 22 litres environ.

La bière n'est une boisson usuelle que dans quatre départements qui sont groupés sur la frontière et qui consomment de 75 à 220 litres par tête. On se plaint déjà, sur quelques points, de la mauvaise qualité des petites bières, et il est à craindre que bientôt il en soit de la bière comme du cidre et que l'on boive du genièvre pour la digérer.

La consommation de l'alcool a augmenté progressivement depuis quarante ans; elle était de 2 litres par tête en 1839, et elle est aujourd'hui de près de 3 litres.

Les départements qui consomment le plus d'alcool sont ceux qui ne récoltent pas de vin : le contraste est sous ce rapport des plus frappants : on en consomme même fort peu dans ceux qui ne produisent que des eaux-de-vie de vin.

Les données statistiques confirment l'opinion émise par M. Bergeron, en 1870, dans son rapport sur le vinage, à savoir que l'action nocive des alcools d'industrie est notablement plus intense que celle des eaux-de-vie de vin.

Il ressort, en effet, des documents recueillis par M. Lunier dans un travail lu à l'Académie de médecine de Paris, à l'appui de sa candidature à la section d'hygiène :

1° En ce qui concerne les cas de morts accidentelles déterminées par des excès de boissons, que c'est dans les départements qui consomment le plus d'alcool que les excès de boissons déterminent le plus de morts

accidentelles; on en observe rarement dans ceux qui consomment le plus de vin;

2° Que l'examen des résultats de l'application de la loi sur l'ivresse depuis 1874 conduit aux mêmes conclusions : les cas d'ivresse poursuivis sont cinq fois plus nombreux dans les départements qui consomment surtout de l'alcool que dans ceux qui consomment du vin;

3° Qu'il en est de même des cas de folie de cause alcoolique : le nombre en est presque partout en raison directe de la consommation des alcools, et particulièrement des alcools d'industrie. Il n'y a guère d'exception que pour la Vendée et la Charente-Inferieure, qui ne consomment que des vins blancs, lesquels sont presque aussi dangereux sous ce rapport que les eaux-de-vie.

Nous terminerons cet article par quelques chiffres sur les victimes de l'ivrognerie dans les Etats civilisés, que nous empruntons à un long travail de statistique publié par la Société de tempérance de Liverpool.

En Angleterre, les excès de boisson tuent chaque année en moyenne 50,000 personnes, dont 12,000 femmes.

Vient ensuite l'Allemagne. Là, les victimes de l'ivrognerie sont de 40,000 individus par an.

En Russie, on n'en compte que 10,000; en Belgique, 4,000; en France, 1,500.

Mais la nation qui l'emporte sur les autres pour l'abus des boissons alcooliques, c'est l'Amérique. D'après la statistique du docteur Everest, trois cent mille personnes sont mortes aux Etats-Unis des suites de l'ivrognerie, dans l'espace de huit années.

## LE VERTIGE OU PEUR DES ESPACES

La peur des espaces, le vertige que l'on éprouve quand on se trouve sur un endroit élevé et que l'on surplombe d'une grande hauteur, est caractérisé par une angoisse, une impression anxieuse, vive, ou même une véritable terreur se produisant subitement en présence d'un espace donné. Cet accident nerveux est essentiellement émotif. Il ne s'accompagne jamais de perte complète de connaissance et de chute, et il est tout à fait distinct de l'hypocondrie, du vertige épileptique, du vertige stomacal, du vertige goutteux et surtout de la névropathie cérébro-cardiaque.

Parmi les exemples nombreux cités par le docteur Legrand du Saulle, en voici un qui présente un intérêt particulier :

Une dame pleine d'esprit et de grâce, et mère de trois beaux enfants, était, depuis un voyage fait en Suisse il y a quinze ans, voyage dans lequel elle a fait l'ascension du Righi, atteinte de la peur des espaces. Traverser seule les Champs-Elysées, les boulevards, une grande place ou même une rue un peu large, lui était presque impossible : elle pleurait, tremblait de tout le corps, se lamentait à haute voix; ses jambes fléchissaient; « il lui semblait qu'elle s'enfonçait dans l'argile, que le sol rebondissait, puis qu'elle s'enfonçait encore ».

Même terreur lorsqu'elle pénétrait seule dans une église vide, qu'elle suivait en voiture une rue déserte, et, dans son escalier même, il lui arrivait, rentrant chez elle, de réclamer en plein jour le bras de son concierge pour monter à son appartement. Car il lui suffisait de sentir un bras sous le sien ou de donner la

main à son dernier enfant, âgé de dix ans, pour être rassurée. Habitant au fond d'une assez grande cour, jamais, quoi qu'il arrivât, elle ne regardait par la fenêtre.

Son appartement était littéralement encombré de meubles, de tapisseries, de tableaux et d'objets d'art : un véritable bazar. Dans ce plein, sa maladie, qui n'est que l'horreur du vide, ne trouvait plus à la tourmenter.

C'est peu à peu, ajoute le docteur, que ces symptômes s'affaiblirent, puis disparurent.

## LE GIBIER FAISANDÉ

Beaucoup de personnes aiment avec passion le gibier *faisandé ;* c'est un goût particulier que nous ne chercherons pas à discuter; mais ce que nous pouvons apprendre à ces gourmets, ce sont les causes qui amènent les viandes à cet état. L'*Union médicale* nous aidera à rendre ce service à nos lecteurs qui ignorent ce qu'ils mangent en consommant de la viande faisandée.

Suivant MM. Lemaître et Pasteur, la décomposition des corps morts s'accomplit en deux périodes :

Dans la première, qui s'annonce par une odeur particulière et nauséabonde, on constate dans les chairs la présence de plus de trente espèces d'animaux microscopiques occupés à en dépecer les parties.

Dans la seconde, qui est caractérisée par l'apparition d'une matière verte, les infusoires qui ont provoqué la période fétide disparaissent peu à peu, pour faire place à des animaux plus développés en taille, tels que les *Engelmiens,* les *Vorticelles,* etc., précurseurs naturels des vers visibles à l'œil nu.

Dans l'une comme dans l'autre, la viande, si l'on peut encore donner ce nom aux détritus infects dont vous vous nourrissez, n'offre plus qu'un bataillon d'insectes grouillants, s'évertuant à la transformer et à la détruire.

Ajoutons bien vite qu'au dire des micrographes, ces animalcules sont de la même nature, peut-être les mêmes, que ceux qui, dans certaines maladies, dans le charbon par exemple, sont les agents actifs de la décomposition du sang.

Avis à nos lecteurs, ne fût-ce qu'au point de vue de l'hygiène.

## L'HYGIÈNE DE CERTAINS CHANTEURS

Feu le docteur Mandl, qui s'est surtout occupé des affections et de l'hygiène du larynx, a consigné dans un manuel les habitudes de quelques chanteurs et cantatrices de théâtre.

A titre de simple curiosité, et sans en garantir l'authenticité, le docteur Mandl cite des articles de journaux, desquels il résulte que :

Le ténor suédois Labatt mange deux concombres salés et prétend que ce légume, ainsi préparé, est souverain pour fortifier la voix.

Sontheim se contente d'une prise de tabac et d'un verre de limonade fraîche.

Wachtel avale un jaune d'œuf battu avec du sucre.

Steger, le plus gros des ténors, boit le jus brun de Gambrinus.

Walter prend du café noir.

Niemann, du champagne.

Tichatchneck, du vin chaud de Bordeaux, préparé avec de la cannelle, du sucre et du citron.

Le ténor Ferenczy fume un ou deux cigares que ses camarades regardent comme du poison.

Mlle Braun-Brini boit, après le premier acte, un verre de bière; après le troisième et le quatrième, une tasse de café au lait, et, quand elle doit chanter le grand duo des *Huguenots* du quatrième acte, une bouteille de moët rosé.

Nachbauer grignote des bonbons pendant la représentation.

Le baryton Rubsam boit de l'hydromel.

Formès boit du porter.

Le célèbre baryton Beck ne prend rien du tout et s'abstient de parler.

Draxler fume du tabac turc et boit un verre de bière.

Un autre chanteur, le docteur Schmidt, suivant les circonstances, prend du café ou du thé, un quart d'heure après de la limonade ou de l'hydromel. Dans les intervalles, il aspire une prise de tabac et mange des pommes, des prunes ou même un morceau de pain sec.

Mme Sontag prenait, dans les entr'actes, des sardines; Mme de Sparre, de l'eau chaude; Mme Cruvelli, du bordeaux mêlé de champagne; Mme Cabel mangeait des poires; Mme Ugalde, des pruneaux, et Mme Trebelli, des fraises; Mario fume; Mme Borghi-Mamo prise, et Mme Dorus-Gras mangeait de la viande froide. Mme Patti prend de l'eau de Seltz entre chaque acte; Mme Nilsson se réconforte avec de la bière; Mme Carvalho ne prend le plus souvent qu'un peu d'eau claire ou de bouillon; Mme Krauss fait de même; M. Faure est surtout friand de raisin de Fontainebleau.

## FAUT-IL ÉPLUCHER POMMES ET ORANGES?

Bon nombre de personnes, surtout d'enfants, ont la mauvaise habitude de manger les pommes et les oranges sans les éplucher. Le Dr Tscharmen (de Gratz) a découvert qu'il se développe dans la peau de ces fruits un champignon tout à fait semblable à celui qui constitue les germes de l'esquinancie. Si l'on conserve dans un endroit fermé des pommes et des oranges, le péricarpe, c'est à-dire l'ensemble des enveloppes des graines, se couvre bientôt de petites taches de couleur foncée ou noire, qui, rassemblées par un raclage, forment une poussière humide, que le microscope montre composée de spores du champignon précité. Le Dr Tscharmen, ayant séparé deux de ces petites taches d'une orange, les introduisit dans ses poumons par une forte aspiration; le lendemain, il ressentit une sorte de chatouillement à la gorge, et bientôt l'esquinancie se déclara. Il est donc prudent d'éplucher les pommes et les oranges avant d'y porter les dents.

## LA CRAMPE DES ÉCRIVAINS

On sait qu'il se produit parfois des crampes chez les écrivains : après plusieurs heures consécutives de travail, leurs doigts se roidissent, comme paralysés, et refusent le service, tout en éprouvant une sensation d'inertie froide, qui ne laisse pas d'être douloureuse.

Ces crampes peuvent être prévenues en s'appliquant, en s'habituant à écrire le plus légèrement possible, c'est-à-dire en s'abstenant de serrer la plume entre les doigts et de peser trop lourdement sur les bras.

Quand elles ont lieu, il faut s'arrêter quelques in-

stants, tendre les doigts écartés sur une table et les appuyer énergiquement; puis, avec la paume de la main gauche, les soumettre à des frictions, à une sorte de massage; les nerfs retrouveront bientôt leur élasticité :

## POUDRE CONTRE LE CORYZA

Chlorhydrate de morphine..... 0 gr. 10 centigr.
Gomme pulvérisée..... 8 gr.
Sous-nitrate de bismuth..... 24 gr.

Mêlez. — Priser dans les 24 heures le quart et jusqu'à la moitié de ce mélange, au début du coryza aigu et dans le coryza chronique. Avant d'en faire usage, on lave les fosses nasales en reniflant de l'eau tiède. — Les solutions astringentes, l'eau de goudron, les eaux sulfureuses ou arsenicales, injectées au moyen d'un pulvérisateur, produisent aussi de bons effets.

## INSECTES DANS LES OREILLES

Quand un insecte pénètre dans l'oreille, le premier conseil à donner est de ne pas s'effrayer, car cette introduction n'offre aucun danger réel. La pénétration des perce-oreilles, des araignées ou des fourmis jusqu'au cerveau est un de ces préjugés qu'il faut absolument mettre de côté. Mais certains insectes peuvent piquer l'intérieur de l'oreille, causer, par suite, une inflammation douloureuse.

Le meilleur moyen, quand on s'aperçoit qu'un insecte s'est introduit dans l'oreille, c'est d'injecter jusqu'au fond de l'oreille un peu d'huile d'olive ou d'amandes douces. L'insecte est tué, et il devient facile de l'extraire avec le cure-oreille ou les petites pinces.

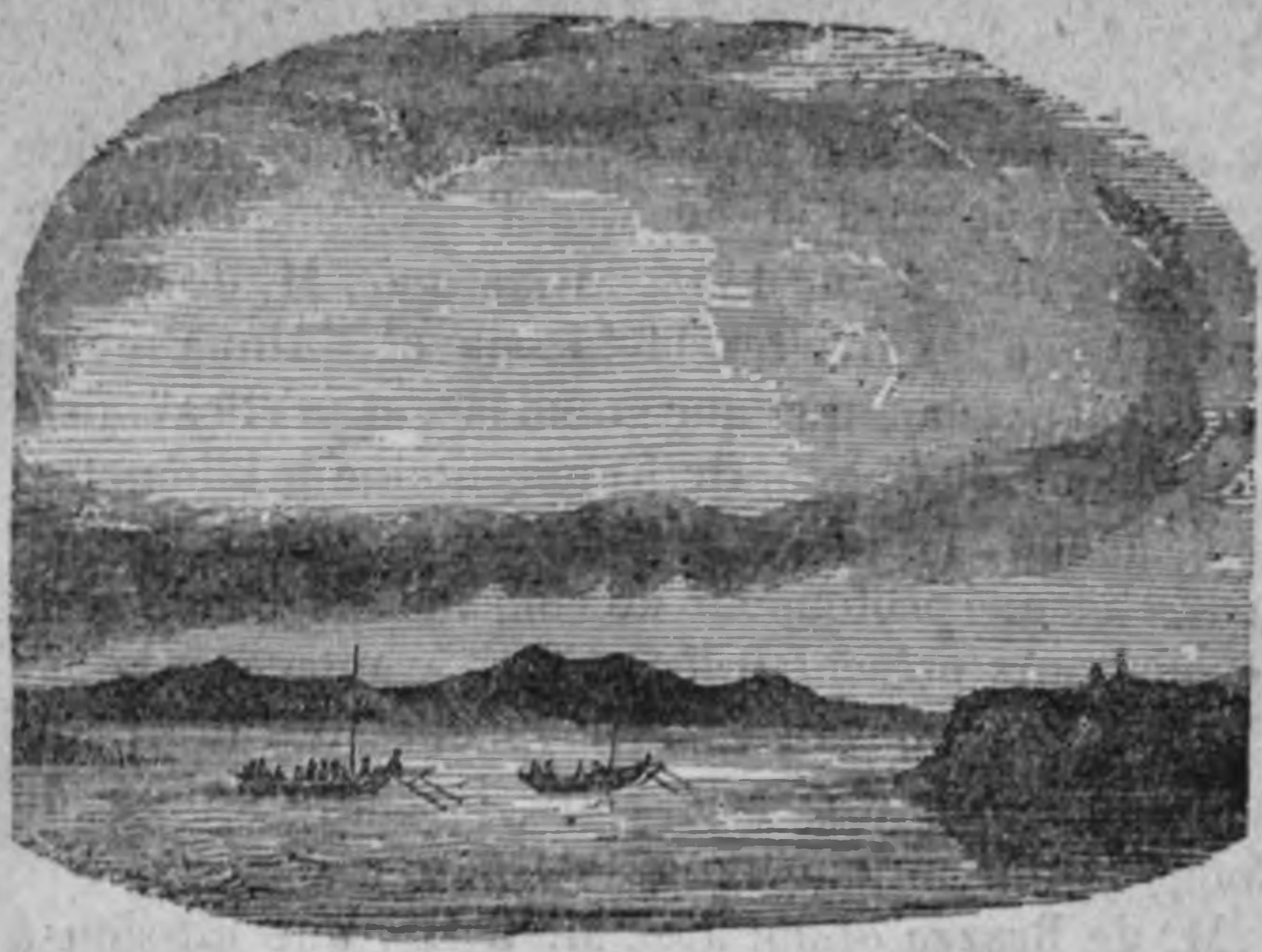

# LES EXPLORATIONS DE M. SAVORGNAN DE BRAZZA

M. de Brazza compte aujourd'hui parmi les voyageurs illustres.

C'est un homme d'une trentaine d'années, à la taille haute, un peu voûtée; le visage, d'un ovale accentué, est encadré d'une barbe noire; l'œil est vif, le teint mat; tout, dans l'attitude, le geste, le regard, les traits, respire l'énergie.

Pendant que Stanley traversait le continent et descendait le Congo, M. de Brazza, accompagné de M. Marche, pénétrait dans l'Afrique équatoriale. Ce premier voyage avait lieu en 1877. En 1878, avec M. Ballay, il découvrait le bassin supérieur des rivières Alima et Licona, et ouvrait ainsi à nos établissements du Gabon une route vers l'intérieur du grand continent.

En 1879, les découvertes de Stanley mettent en pleine valeur celles de M. de Brazza; on apprit alors que le Congo, loin de couler à peu près directement

de sa source à son embouchure, fait un immense détour vers le nord et dépasse l'équateur, avant de se diriger au sud-ouest vers l'Atlantique. M. de Brazza comprit que les rivières la Licona et l'Alima ne se perdaient pas dans quelque grand lac, et qu'elles étaient des affluents du Congo. Or, à une centaine de kilometres de l'Ogooué, l'Alima a une largeur moyenne de cent mètres et une profondeur de cinq mètres Si le reste de son cours présentait les mêmes avantages à la navigation, on pouvait espérer qu'elle fournirait une voie commerciale directe entre le cours moyen du Congo et l'Atlantique.

M. de Brazza obtint avec M. Ballay une mission à l'effet d'explorer entièrement ces cours d'eau ; on leur accorda une subvention pour faire construire deux chaloupes à vapeur démontables en vue de descendre l'Alima et de naviguer sur le Congo.

Cependant M. de Brazza était reparti à la fin de 1879 pour l'Afrique. Il a résumé dans une séance spéciale donnée pour le recevoir par la Société de géographie, le 28 juin 1882, dans le grand amphithéâtre de la Sorbonne, les principaux incidents de son dernier voyage.

Il remonte d'abord l'Ogooué jusqu'à la rivière Passa, fonde une station hospitalière pour le comité français de l'Association internationale africaine, et la nomme Franceville. Il traverse un grand nombre de rivières, remarque que le pays est bien arrosé, sain et fertile, que la population y est très-dense, et d'un tempérament pacifique. C'est le royaume du Makoko ou chef des Batakès.

Ce roi envoie un de ses chefs porter au voyageur des paroles amicales : « Makoko sait que vos terribles

M. Savorgnan de Brazza.

fusils n'ont jamais servi pour l'attaque; il désire votre amitié; il vous offre la sienne. » M. de Brazza accueillit avec joie ces ouvertures et promit de visiter le monarque. En attendant, il se dirige vers le pays des Oubendji dont il veut conquérir à tout prix les sympathies, il leur envoie une cartouche et un pavillon français : « Choisissez, leur fait-il dire; la cartouche, c'est la guerre, et elle sera terrible; le pavillon, c'est une paix qui vous donnera honneur et profit. »

Dans toutes ses négociations, notre voyageur fut admirablement servi par son interprète Ossia. Il arrive peu après chez Makoko et peut constater que là où l'islamisme n'a pas pénétré, les nègres n'opposent à la race blanche aucune défiance insurmontable. Le roi le reçut avec joie : « Makoko est heureux de voir le grand chef blanc de l'Occident; Makoko sait distinguer ceux qui viennent à lui avec un cœur pacifique des autres blancs... » C'était une allusion à la traite des noirs, qui, il faut le dire à la honte de certaines gens d'Europe, se pratique encore dans ces contrées; c'était aussi une allusion aux coups de fusil tirés par Stanley sur les populations riveraines du Congo. Un traité est convenu et solennellement accepté dans une assemblée des chefs du royaume; on donne à M. de Brazza une boîte pleine de terre pour le grand chef blanc, afin qu'en la regardant il sache que le pays de Makoko est à la France. Makoko arbore sur sa case le drapeau français; il favorise les négociations avec les Oubendji.

L'entrevue de M. de Brazza et des chefs oubendji fut laborieuse. Les chefs, vêtus de leurs plus beaux costumes, arrivèrent au rendez-vous sur une

flottille qui comptait plus de cent pirogues. Il fut écouté dans un profond silence. Il protesta de ses intentions pacifiques et offrit son amitié. Alors un chef s'avança et montra un îlot voisin : « Regarde cet îlot, dit-il ; sa vue nous avertit tous de nous tenir en garde contre les blancs; c'est là qu'a été versé le sang des Oubendji par un de vos chefs (Stanley), qui descendait le fleuve avec la rapidité du vent. Que celui-là n'essaye pas de le remonter! » Les efforts de M. de Brazza triomphèrent de ces défiances, la paix fut conclue.

On procéda à l'enterrement de la guerre. Un grand trou fut creusé; on y jeta des flèches, des balles, de la poudre; on remplit l'excavation de terre; on planta dessus un arbre qui poussa rapidement : « Nous venons, dit le grand chef des Oubendji, d'enterrer la guerre, et si profondément, que ni nous ni nos enfants ne pourrons jamais la retrouver. — Et nous aussi, ajouta M. de Brazza, nous serons vos amis tant que cet arbre ne portera ni balles ni poires à poudre. » Les Oubendji sont aujourd'hui nos meilleurs auxiliaires, leurs pirogues font flotter notre pavillon sur le Congo.

Nous assistons ensuite à la création, à N'tamo, d'une seconde station hospitalière; N'tamo est situé sur le cours inférieur du Congo. La station a reçu de l'Association africaine le nom de Brazzaville. « Titre oblige, s'est écrié le vaillant explorateur, je ne l'oublierai pas. » Dans cette partie de son cours, le fleuve s'ouvre un passage semé de cataractes à travers un pays accidenté. C'est là que M. Stanley s'efforce d'ouvrir une route coûteuse ; déjà des sommes importantes ont été dépensées pour faire franchir

les quarante premiers kilomètres à deux petits vapeurs démontables.

Revenu de Banana (embouchure du Congo) à Libreville (Gabon), M. de Brazza, attendant toujours l'arrivée de M. Ballay, retourne à Franceville, explore de nouveau le pays entre l'Ogooué et l'Alima, organise des escouades de défricheurs et de terrassiers indigènes, et bientôt s'ouvre une route praticable pour le transport des bestiaux; il fonde la troisième station, dite « du haut Alima ». On sut, à ce moment, que M. Stanley avait voulu gagner les services du chef de poste laissé à Brazzaville, et que les chefs tèké soumis à Makoko avaient été sollicités d abandonner leurs engagements envers notre voyageur. Les tentatives avaient échoué. Tombé malade, M. de Brazza, après un séjour forcé à Franceville, voyant que de nouveaux délais étaient nécessaires pour les réparations des bateaux enfin arrivés au Gabon, s'est décidé à revenir pour quelque temps en France.

L'Ogooué est un fleuve qui, de son embouchure auprès du cap Lopez, à quinze ou dix-huit lieues au sud de Libreville, capitale de notre colonie du Gabon, remonte vers l'est, puis vers le nord, redescend dans la direction du sud, pour venir prendre sa source dans un massif de montagnes situé sous le 12e degré de longitude est du méridien de Paris. Le fleuve Congo ou Oloumo, que l'on appelle quelquefois fleuve Livingstone, a son embouchure à un endroit appelé Banane, au 6e degré de latitude sud, soit environ 160 lieues au sud de l'équateur et 145 au sud de l'embouchure de l'Ogooué. Il remonte vers le nord, en s'inclinant vers l'est. Ensemble, l'Ogooué et le Congo se trouvent circonscrire un

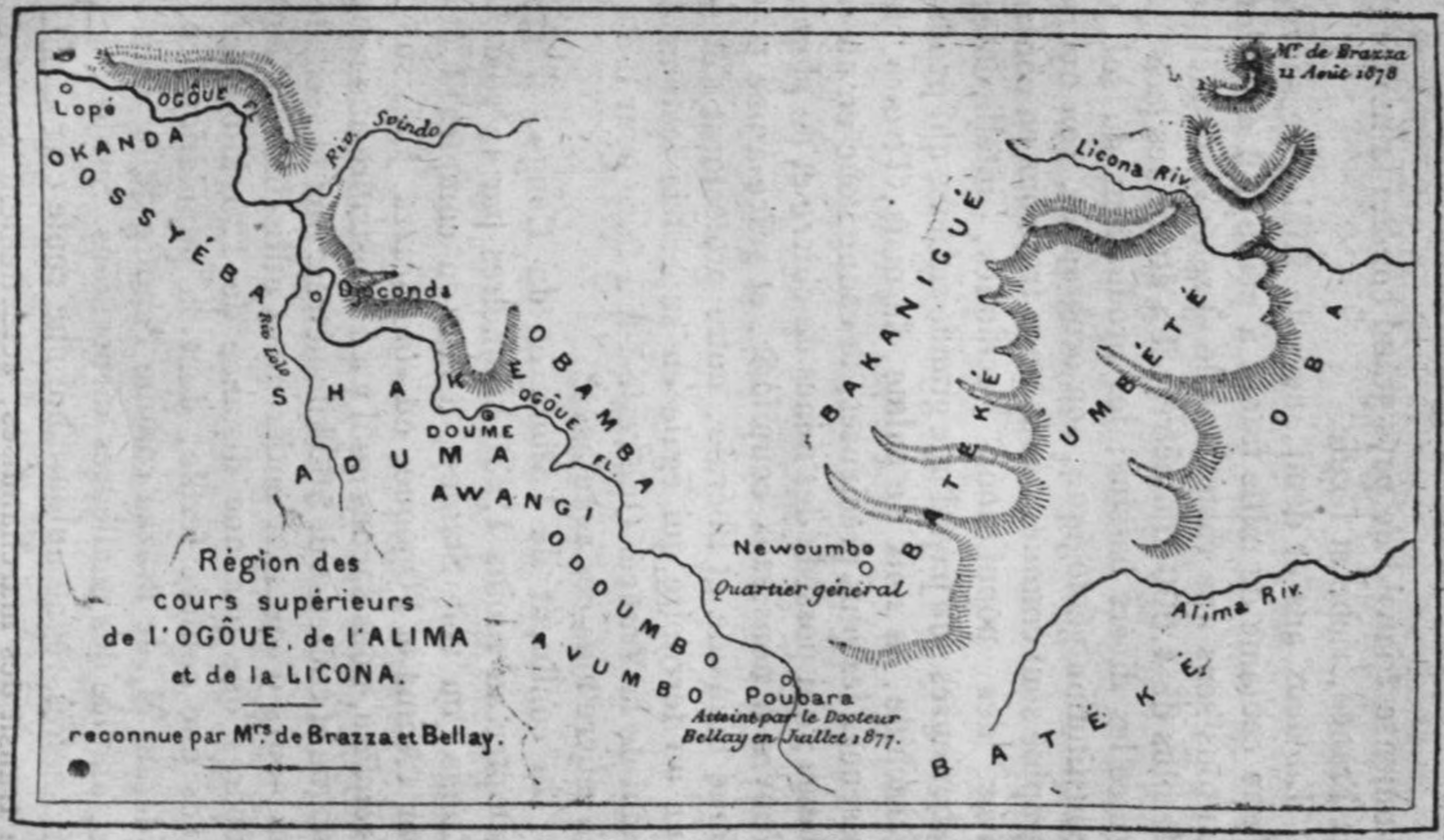
Lopé
OGÔUE R.
OKANDA
Riv. Sotndo
OSSYÉBA
Rio Lolo
Ogconda
SHAKE
OGÔUE R.
OBAMBA
DOUME
ADUMA
AWANGI
ODOUMBO
AVUMBO
Poubara
Atteint par le Docteur Bellay en Juillet 1877.
Région des cours supérieurs de l'OGÔUE, de l'ALIMA et de la LICONA.
reconnue par Mrs de Brazza et Bellay.
Mr de Brazza 12 Août 1878
Licona Riv
BAKANIGUÉ
OKÉ
OUMBÉTÉ
OBA
Newoumbo
Quartier général
Alima Riv.
BATÉKÉ

immense triangle de pays grand comme la moitié de la France, riche et fertile.

En deux ans et demi, avec de faibles ressources (une centaine de mille francs à peine), il a exploré en tous sens une vaste contrée et relevé un itinéraire de plus de 4,000 kilomètres; il a étudié les passages entre les divers bassins; les productions du sol, sa constitution géologique, son orographie, son hydrographie sont connues; nous nous trouvons en contact avec des populations pacifiques, intelligentes, laborieuses; un pays d'une grande richesse qui produit l'arachide, la noix de palme, le maïs, l'ivoire, les essences les plus précieuses, le caoutchouc en abondance; qui possède des mines de cuivre et de plomb, s'ouvre à nous sans coup férir, et grâce à une politique humaine et libérale, notre protectorat s'étend sur un territoire qui égale en superficie le tiers de celui de la France. Que reste-t-il à faire pour mettre en œuvre tous ces avantages?

Du confluent de l'Alima et du Congo, il faut compter au moins 1,230 kilomètres par la voie du Congo, ou voie Stanley; il faut en compter 1,400 par l'Alima et l'Ogooué, ou voie Brazza. Mais sur la première, nous savons qu'il y a à construire une route longue et coûteuse de 500 kilomètres. Sur la seconde, les cours d'eau sont entièrement utilisables, n'étant séparés que par une distance de 120 kilomètres, dans une contrée fertile, dont la population, considérant M. de Brazza comme l'apôtre de la liberté, est animée des meilleures dispositions. Sur ces 120 kilomètres règne aujourd'hui une route carrossable; le transit des marchandises, actuellement assuré par des porteurs et des bêtes de somme, pourra se faire,

quand on le voudra, au moyen d'une voie Decauville. Il y aurait mieux à faire : ce serait de sacrifier l'Ogooué, qu'on ne rendra jamais navigable comme le Congo ou l'Alima, et de jeter hardiment une voie ferrée de Libreville à la station de l'Alima. Le terrain, dit-on, est passable, et le profit serait immense pour notre établissement du Gabon, qui deviendrait bientôt l'entrepôt de tous les produits du haut Congo.

---

## UNE VISITE ACADÉMIQUE

Le bonhomme Pongerville, ayant un jour chez lui un de ses jeunes amis et devant recevoir un candidat, invita le jeune homme à demeurer. — « Mon ami, ce sera pour vous un amusement et une bonne leçon ! »

Le candidat est introduit; il se montre d'abord embarrassé et use plusieurs lieux communs. L'académicien se penche à l'oreille de son jeune protégé. — « Le malheureux, dit-il, est bien en peine. C'est qu'il ne pleut pas! Mais l'orage vient, et vous allez voir. » Il n'avait pas fini, qu'un coup de tonnerre retentit : l'ondée commence à frapper les vitres.

Le candidat s'arrange sur sa chaise, reprend de l'assiette et de l'à-propos, rappelle que Pongerville a traduit le poëte latin Lucrèce, et débite les fameux vers : *Suave mari magno*, etc. — « Et savez-vous, monsieur, s'écrie-t-il en se tournant vers le jeune homme, savez-vous comment le maître a rendu en vers fameux cette description magnifique de la tourmente, du spectacle de la mer et de ses victimes? » Là dessus il entonne les vers français et s'arrête tout juste au quatrième. C'était le tour du jeune homme,

mécontent d'avoir été pris de court, et qui lui dit : « Très-bien, monsieur, mais la suite? »

L'académicien lui fit signe de ne pas insister, et lui dit pourquoi lorsque le candidat fut parti.

— Ils ne savent tous que ces quatre vers; il paraît que ce sont mes meilleurs. Encore leur faut-il une occasion de les placer; et ils ne se présentent chez moi que les jours de tempête. Allez! quand il fait beau temps, je suis tranquille, je sais qu'il ne viendra point de candidats.

---

## ADAM

Les mahométans racontent ainsi l'histoire de la formation et de la chute d'Adam :

Dieu, voulant créer l'homme, dit à Gabriel de prendre une poignée de chacun des sept différents lits qui composent la terre. Gabriel partit aussitôt et vint déclarer à la terre l'ordre du Créateur : elle en fut effrayée et pria le messager céleste de représenter à Dieu, de sa part, qu'il était à craindre que la créature qu'il voulait former ne se révoltât un jour contre son auteur; ce qui ne manquerait pas d'attirer sur lui la malédiction divine. Gabriel consentit à représenter à Dieu cette requête; mais elle ne fut point écoutée, et Dieu chargea deux autres anges, Michel et Raphaël, d'exécuter sa volonté. A l'exemple de Gabriel, ils se laissèrent toucher de compassion, et retournèrent vers le trône de l'Eternel porter les plaintes de la terre. Ce fut alors que Dieu confia la commission au rédoutable Azraël, qui, sans s'amuser à converser avec la terre, arracha vio-

lemment de son sein les sept poignées commandées, et les porta dans l'Arabie, où devait se consommer le grand œuvre de la Création. Dieu fut si satisfait de la prompte sévérité de son ministre qu'il lui donna

Adam et Ève chassés du Paradis.

depuis la charge de séparer les âmes des corps ; c'est pour cela qu'il est appelé l'ange de la mort.

Cependant les anges avaient pétri cette terre dont Dieu fit un moule de sa propre main et qu'il laissa sécher quelque temps Les anges se plaisaient à considérer ce moule. Eblis ou Lucifer ne se contenta pas de le regarder, il le frappa sur le ventre et sur la poitrine, et voyant qu'il était creux, il se dit en lui-

même : Cette créature, formée vide, aura besoin de se remplir souvent et sera par conséquent sujette à beaucoup de tentations. Alors il demanda aux autres anges ce qu'ils feraient si Dieu voulait les assujettir à ce souverain qu'il allait donner à la terre. Tous répondirent qu'ils obéiraient. Eblis parut du même sentiment, mais il résolut en lui-même de n'en rien faire. Le corps du premier homme formé, Dieu l'anima d'une âme intelligente, et lui donna des habits merveilleux, conformes à la noblesse et à la dignité de son être. Ensuite il ordonna aux anges de se prosterner devant lui; ce qu'ils firent, à l'exception d'Eblis, que sa désobéissance fit chasser du Paradis, et dont la place fut donné à Adam. La défense de manger du fruit d'un certain arbre ayant été faite au père des hommes, Eblis s'associa avec le paon et le serpent, et fit tant par ses discours artificieux, qu'Adam désobéit. Du moment que les deux époux eurent mangé du fruit défendu, leurs habits tombèrent à leurs pieds, et la vue de leur nudité les couvrit de honte. Ils coururent aussitôt vers un figuier, dont les feuilles leur servirent à se couvrir; mais ils ne tardèrent pas à recevoir la sentence qui les précipitait du Paradis, et qui les condamnait au travail et à la mort. Adam tomba sur la montagne de Sérendib, dans l'île de Ceylan, où se voit encore aujourd'hui la montagne appelée pic d'Adam. Eve fut séparée de lui dans sa chute, et tomba près de l'endroit où fut depuis bâtie la ville de la Mecque. Eblis, qui la suivit de près, arriva comme elle en Arabie. Quant au paon et au serpent, ils furent jetés, le premier dans l'Hindoustan, et le second en Perse. L'état de misère et de solitude où se trouva réduit le malheureux Adam lui

fit bientôt sentir l'énormité de sa faute. Il implora la clémence de son créateur; alors Dieu fit descendre du ciel une espèce de pavillon, qui fut placé dans l'endroit où depuis Abraham fit bâtir le temple de la Mecque. Gabriel lui montra les cérémonies qu'il devait pratiquer autour de ce sanctuaire pour obtenir le pardon de sa faute, et le conduisit ensuite à la montagne d'Arafat, où il retrouva Eve après deux cents ans de séparation.

Dieu, disent d'autres légendes turques, créa d'abord le corps d'Adam, et le plaça, comme une belle statue, dans l'Eden. Son âme, qu'il avait créée plusieurs siècles auparavant, eut l'ordre d'aller animer cette statue. Examen fait du logis qui lui était destiné, l'âme représenta à Dieu combien cette masse fragile et périssable était peu digne de la dignité et de la spiritualité de son être. Dieu, qui ne voulait pas employer la violence, ordonna à son fidèle ministre Gabriel de prendre son flageolet et d'en jouer un air ou deux auprès du corps d'Adam. Au son de cet instrument, l'âme parut oublier toutes ses craintes; elle s'émut, elle s'agita; l'ange continua, elle se mit à tourner en cadence autour de la statue; enfin, dans un moment de délire, elle entra dans le corps d'Adam par les pieds, qui se mirent aussitôt en mouvement, et dès lors, il ne lui fut plus permis de quitter sa nouvelle habitation que sur un ordre exprès de l'Eternel.

---

## M. DAGNEL RECEVRA...

Il y a des gens qui ont des idées tout à fait neuves, originales, insensées. Voici celle qui, un beau matin, se trouva germer dans le cerveau d'un pauvre

petit employé de la préfecture de Marseille. Nous résumons l'histoire d'après la correspondance d'un grand journal de Paris, la *Patrie*.

Il y avait, peut-être y a-t-il encore à la mairie de Marseille un employé, jeune fantaisiste, du nom de Dagnel. Parmi ses fonctions se trouvaient celles de rédiger les notes que le préfet et le maire avaient à transmettre aux journaux. Sa bonne écriture et une rédaction passable avaient fait octroyer cet emploi à ce garçon, moyennant des appointements s'élevant à un millier de francs par an. C'était maigre, mais enfin c'était le pain.

Le 31 décembre, Dagnel reçoit l'ordre de rédiger l'avis annuel pour prévenir les autorités de l'heure des visites officielles. De sa main, il rédige ;

Le préfet des Bouches-du-Rhône recevra le 1er janvier à dix heures du matin, à la Préfecture;

Le général commandant la 15e division militaire recevra le 1er janvier à onze heures, à l'hôtel de la division.

C'était tout, officiellement parlant. Dagnel copie les lignes banales... Puis un rayon de soleil pénètre dans sa cervelle, une idée lumineuse se fait jour... Peut-être rit-il de bon cœur à l'idée originale qui vient de naître... Il hésite un instant... L'idée lui paraît hardie, mais, bah! personne n'en mourra. Il ajoute donc, après le général :

M. Dagnel recevra le 1er janvier à une heure, à son hôtel, rue Saint-Ferréol, n° 7,... la magistrature et un peu de clergé.

Cette note fut envoyée aux journaux ; elle arriva au moment de la mise en page, alors que compositeurs, correcteurs, pressés par les rédacteurs et les secrétaires

de rédaction, glissaient dans le journal tout ce que l'on voulait. D'ailleurs doit-on se méfier des notes officielles que l'on insère telles qu'elles arrivent? Bref, le matin du premier jour de l'an, tout Marseille était informé que M. le préfet recevait à dix heures, M le général de division à onze, et M. Dagnel à midi, la magistrature et un peu de clergé! Qu'était ce Dagnel? Personne ne savait et ne répondait, quand tout à coup un jeune substitut fit remarquer que l'on avait annoncé l'avant-veille l'arrivée à Marseille d'un haut fonctionnaire chargé de faire enquête sur les faits et gestes des ouvriers italiens. Nul doute, Dagnel était ce commissaire énquêteur C'était le délégué du ministre, son représentant. De là, son invite a la magistrature et au clergé de lui faire visite. Cet *un peu* qui s'était glissé là si modestement dans l'annonce relative au clergé était toute une révélation que les malins sur la politiques se chargèrent de commenter. On y vit une égalité de balance maintenue entre les partisans et les adversaires du concordat. Il fut donc convenu que la visite serait faite. On trouva bien M. le commissaire un peu pressé; mais représentant du ministre, on pouvait lui passer ce léger oubli des convenances ordinaires.

Le premier jour de l'an, le préfet, puis le général, ayant reçu les visites, magistrats et membres du clergé remontèrent en voiture, et la file prit le chemin de la rue Saint Ferréol, hôtel de M. Dagnel. Magistrature assise et magistrature debout descendirent et restèrent stupéfaites devant la piètre mine de M. le commissaire. Bref, la vérité ne fut pas longue à se faire connaître, et chacun de remonter dans son carrosse et de fuir les regards absolument étonnés de la foule qu'avait attirée le cortége, et parmi laquelle s'était répandu le bruit

qu'un grand personnage attendu venait d'arriver par le train du matin.

Ce fut un fou rire d'une part, quand on sut que ce grand personnage, c'était Dagnel, mais de l'autre une véritable indignation. La plaisanterie était forte, elle était même fort drôle, et Dagnel, pour leur premier jour de l'an, fit don à ses compatriotes d'un quart d'heure de vrai bon sang. Toutefois quelques esprits grincheux, et parmi eux quelques mystifiés, pas tous, paraît-il, prirent l'aventure au tragique. Un premier-Marseille fut publié dans un journal grave qui demandait la tête... non, la destitution de Dagnel.

Le maire, qui ne manquait pas d'esprit, calma les tempêtes. —Méfiez-vous, dit-il; si vous mettez ce garçon-là sur le pavé, il se fera chroniqueur, et, après ce qu'il a fait, prenons garde à ce qu'il pourrait encore imaginer.

---

## EMPLATRE CONTRE LES CORS AUX PIEDS

| | |
|---|---|
| Cire jaune..... | 4 parties |
| Poix blanche..... | 2 — |
| Térébenthine ..... | 1 — |
| Vert-de-gris pulvérisé ..... | 1 — |

On ajoute le vert-de-gris aux substances résineuses fondues et passées, on agite jusqu'à ce que l'emplâtre soit suffisamment refroidi : on en place une petite quantité sur un morceau de linge, et l'on en recouvre le cor. Cet emplâtre ne fait pas passer les cors, mais il calme certainement les douleurs qu'ils occasionnent souvent.

# MÉDECINE.

## *Des Glaires, de leurs effets et des désordres qu'elles produisent dans l'économie animale.*

L'Élixir du docteur Guillié, préparé par Paul Gage, est surtout utile aux personnes qui habitent la campagne, qui sont éloignées des secours de la médecine, et à la classe ouvrière, à laquelle il épargne des frais considérables de médecine. Ce n'est pas un remède secret, c'est un perfectionnement d'une formule du Codex.

Une expérience de plus de soixante années a démontré jusqu'à l'évidence que l'Élixir du docteur Guillié, préparé par Paul Gage, était d'une efficacité incontestable contre les fièvres des contrées marécageuses, et surtout contre cette affection si fréquente à la campagne pendant les travaux des moissons, et que l'on a appelée *embarras gastrique* ou *état saburrhal*. Cette affection, qui réclame immédiatement un évacuant, se caractérise par la perte complète de l'appétit, un enduit blanchâtre de la langue, des envies de vomir, de la fièvre, un état de courbature générale, etc. Le seul moyen d'arrêter cette affection est d'employer un purgatif. Dans ce cas, on est heureux d'avoir sous la main l'Élixir du docteur Guillié.

La vogue extrême dont cet Élixir [1] *jouit dans le monde entier*, la quantité immense qui s'en consomme tous les ans, sont la meilleure preuve que l'on puisse donner de sa puissance médicale, des services qu'il rend tous les jours, et surtout de la bénignité de son usage, puisqu'il peut être administré avec un égal succès à la plus tendre enfance et à la plus extrême vieillesse, sans jamais donner lieu à aucune espèce d'accident.

M. Paul Gage, répondant aux désirs qui lui ont été souvent manifestés, a préparé avec succès, et peut offrir au public des PILULES D'EXTRAIT D'ÉLIXIR ANTIGLAIREUX du docteur Guillié qui contiennent, sous un petit volume, toutes les propriétés toni-purgatives de cet Elixir. — Pour plus amples renseignements, voir aux Annonces.

[1] Il se trouve dans le commerce bon nombre d'Élixirs vendus sous la dénomination d'*antiglaireux* qui ne sont qu'une imitation grossière du véritable préparé par Paul Gage, et qui peuvent être plus nuisibles qu'utiles. Il est donc important de se défier de la contrefaçon.

# MAGIE ET DIVINATION

## LES ARUSPICES

Les aruspices, ordre particulier de prêtres constitué par Romulus, lisaient des présages en examinant les entrailles des victimes. De tous les peuples de l'Italie, les Étruriens étaient les plus savants aruspices, et c'est de là que Romulus fit venir ceux qui furent les premiers membres de son corps de prêtres aruspices. Plus tard, sous les successeurs de Romulus, c'est en Étrurie que, chaque année, on envoyait un certain nombre de jeunes gens pour s'instruire dans la pratique de cette science. De peur que l'ordre ne vînt à s'avilir par la qualité des personnes, on choisissait les jeunes adeptes parmi les meilleures familles de Rome.

Les aruspices examinaient : 1° les animaux avant qu'on les ouvrît; 2° les entrailles après l'ouverture; 3° la flamme qui s'élevait des chairs brûlées. Ils étudiaient aussi la fleur de farine, l'encens, le vin et l'eau qui devaient servir aux sacrifices. Ils observaient si les victimes étaient traînées de force aux autels, si elles s'échappaient de la main de leurs conducteurs, si elles éludaient le coup, ou bondissaient, mugissaient en le recevant, si leur agonie était lente ou douloureuse.

Tous ces pronostics étaient sinistres, tandis que les contraires étaient favorables. Lorsque l'animal était ouvert, ils examinaient la couleur des parties intérieures. Un double foie, un cœur petit et maigre, étaient mauvais présages. Mais le plus funeste de tous était

quand le cœur venait à manquer. Ainsi, le jour où César fut assassiné, les aruspices avaient déclaré n'avoir pas trouvé de cœur dans le corps de deux bœufs qui avaient été sacrifiés le matin.

Les entrailles venaient-elles à tomber de la main du prêtre; étaient-elles plus sanguinolentes qu'à l'ordinaire, ou la couleur en était-elle pâle et livide, ces signes annonçaient des désastres imminents, une ruine complète.

Quant à la flamme, il fallait pour que l'augure fût heureux, qu'elle s'élevât avec force, consumât promptement le corps de la victime, qu'elle fût claire, pure, transparente, sans fumée, sans reflets rouges ou noirs; qu'elle ne fût pas petillante, mais restât silencieuse et qu'elle affectât une forme pyramidale. Elle présageait, au contraire, les plus grands malheurs si les chairs s'enflammaient difficilement, si la flamme, au lieu de s'élever en droite ligne, se courbait en laissant des vides, si elle venait à être dispersée par le vent, éteinte par une pluie soudaine, ou si elle laissait, sans les consumer, quelques parties de la victime.

## L'ART NOTOIRE

De nos jours, la connaissance des sciences s'acquiert par un moyen assez pénible, mais de réussite à peu près certaine, l'étude. D'après les anciens, l'*art notoire* donnait le moyen de posséder toutes sciences sans grande peine, en prenant quelques infusions d'herbes, pratiquant quelques jours de jeûne et se soumettant à des cérémonies bizarres.

Purifications, prières, cérémonies achevées, l'aspirant recevait une feuille de parchemin vierge sur laquelle on écrivait des caractères spéciaux et le nom

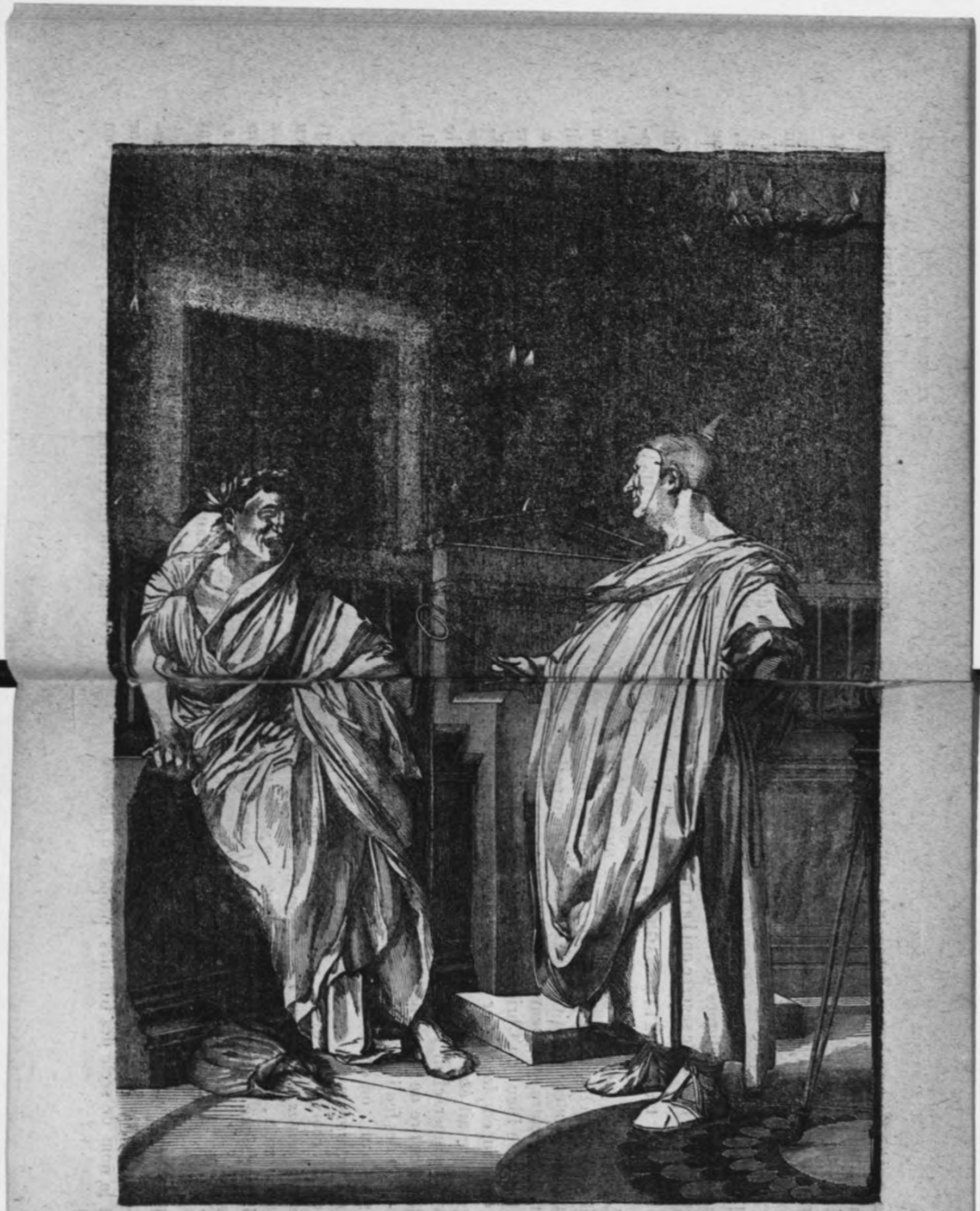

Les aruspices.

d'un ange. Ce parchemin devenait le talisman que l'on mettait sous l'oreiller pendant le temps du sommeil. L'ange dont le talisman portait le nom venait alors visiter le dormeur et lui revéler pendant son sommeil ce qu'il souhaitait savoir.

On a prétendu que Salomon est le premier auteur de l'art notoire, et les anciens devins juifs assuraient que c'était par les pratiques de l'art notoire qu'il avait acquis en une nuit cette sagesse qui l'a rendu si célèbre.

## LA BAGUETTE MAGIQUE

La baguette magique des sorciers du moyen âge était une baguette mince de coudrier, coupée sur une pousse de l'année On la cueillait le premier mercredi de la lune, entre onze heures et minuit, en prononçant les noms de Dieu, du Christ, des anges et du diable. Le couteau employé pour couper et préparer cette baguette devait être vierge, c'est-à-dire n'avoir jamais servi à couper chair ou végétal, et pour couper, il devait être tiré de bas en haut. La baguette, parée par la section des feuilles et des ramilles, était bénite, puis, au gros bout, on écrivait le mot *agla ;* au petit bout, le mot *hetragrammaton,* et en traçant dans l'air une première croix, on disait : *Conjuro te cito mihi obedire; venias per Deum vivum ;* on dessinait une seconde croix, en disant : *Per Deum verum ;* puis un troisième signe de croix, en ajoutant : *Per Deum sanctum.*

## QUELQUES PRÉJUGÉS

En Écosse, on ne se marie pas au mois de mai. Au dix-septième siècle, une réunion d'enthousiastes, qui prit le nom de secte des Gibbites, proposa d'interdire

le mariage pendant le mois de mai. Les anciens Écossais considéraient comme femmes de mauvaises mœurs celles qui se mariaient en mai.

A Rome, dans les temps anciens, la nouvelle mariée, entrant dans la maison de son mari, était soulevée ; car appuyer le pied sur le seuil de la porte ou sauter pardessus, volontairement ou non, était considéré comme un mauvais présage. Ce préjugé avait son origine dans l'histoire de l'enlèvement des Sabines par les compagnons de Romulus.

L'usage de dire : « *Dieu vous bénisse!* » quand on éternue, vient de ce qu'à Athènes on avait remarqué que l'éternument était un signe avant-coureur de la peste. Ce souhait sympathique indiquait le désir de voir échapper au fléau la personne qui éternuait.

## LE LIÈVRE SORCIER

— Imaginez-vous, messieurs, racontait un Gascon gasconnant, que je ne manqué jamais mon *lièbre*, et que j'ai eu le malheur de tomber un *lièbre* ensorcelé.

J'ai tiré dessus au moins cent coups de fusil, sans que jamais cé damné lièbre fût resté sur place.

Un autre Gascon, qui trouvait son compatriote un peu trop crédule ou trop pressé de raconter des histoires fantastiques, prit son fusil et s'en alla dans le parc. Le premier lièvre aperçu passa de vie à trépas, et du sol où il gisait dans la carnassière de notre Gascon. Alors celui-ci, bien délicatement, fendit la peau du ventre, glissa par l'ouverture deux ou trois livres de petit plomb, fit une couture habilement dissimulée, et revenu au salon : — Voyez, mesdames, dit-il, quel curieux lièvre je viens d'abattre, comme il est gras et lourd.

Le premier Gascon soupesa l'animal. — Eh! cadédis,

dit-il, moussu, comment *abez-bous* tué un *lièbre* aussi *fannus* que celui-là? Je le soulèbe, et vraiment je suis *émerbeillé* de sa prodigieuse pesanteur.

On ouvrit l'animal, et quand on en vit sortir tout le plomb enfermé dans sa peau, ce fut un étonnement général, suivi d'une explosion de rires. Mais sans se déconcerter, le chasseur au lièvre ensorcelé s'écria : — Boyez-bous vien, mesdames, la preuve de ce que je vous ai dit, et en même temps quelle est mon adresse? C'est le même sorcier de lièbre qué j'ai tiré cent fois, qué j'ai toujours touché, et qui mé rapporté en gros le plomb qu'il m'avait emporté en détail.


# AUX ASTHMATIQUES

**Toux, Oppression, Catarrhe, Bronchite, Asthme**

Guérison sûre par le traitement AUBRÉE, médecin-pharmacien.

Quand des célébrités médicales de tous pays recommandent le **Traitement Aubrée**, c'est la preuve éclatante qu'il mérite la confiance du public. Les Médecins amis du progrès, ceux qui veulent non-seulement soulager, mais guérir, ordonnent, à l'exemple de leurs éminents confrères, ce traitement sans rival, facile à suivre, n'exigeant aucun régime, comptant 20 *années d'existence, des milliers de guérisons, même celles de vieillards de plus de* 90 *ans.*

Consultations gratuites, renseignements franco.

*Adresser les lettres : GUILLEMAIN-AUBRÉE, à la Ferté-Vidame (Eure-et-Loir).*

## LES CAVES DE LA BANQUE DE FRANCE

Voici de curieux détails sur l'aménagement intérieur des caves où repose le trésor de notre premier établissement financier.

Ces caves ont leur entrée défendue par une série de portes à l'épreuve de la hache et garnies de serrures contre lesquelles les plus habiles crocheteurs useraient inutilement tous leurs rossignols sans pouvoir les ouvrir.

La première porte est en acier et est ornée d'une serrure à trois clefs distinctes et qui sont individuellement impuissantes à l'ouvrir. Une de ces clefs est entre les mains du gouverneur, une autre ne quitte jamais le caissier en chef, la troisième est confiée au censeur de service. Le concours de ces trois personnages est donc indispensable pour pénétrer dans cet antre de Plutus.

Cette porte une fois ouverte, on aperçoit la caisse du service ordinaire qui suffit pour les opérations courantes de chaque jour. Cette caisse est un meuble terrible. Tout y est matière à secrets, et si vous n'êtes pas au courant de son mécanisme, il suffit que vous la touchiez pour entendre tout un carillon de sonneries étourdissantes, carillon qui est déchaîné également dans différentes parties du palais, notamment dans la salle des gardes de nuit, chez le gouverneur, chez le concierge, etc. Enfin toutes les précautions sont prises pour dénoncer immédiatement le voleur assez osé pour pénétrer jusque-là.

Dans une des parois de cette première salle, on aperçoit une autre porte en fer, à peu près semblable à la première.

Cette porte donne entrée dans une seconde cave semi-circulaire que l'on appelle la serre.

Pour pénétrer dans la serre, le concours des trois personnages dont nous avons parlé tout à l'heure est encore indispensable, ainsi que celui de trois nouvelles clefs différentes.

La serre renferme des richesses inouïes sous forme de titres divers, traites, pierres précieuses, etc., dont on confie la garde à la Banque de France. Tout autour de cette salle, ce ne sont donc que portes de caisses en fer dont chacune a sa clef et son secret différents.

Après la serre viennent enfin les caves secrètes; la porte qui donne accès est absolument invisible, tant elle est bien dissimulée dans la muraille, dont elle a l'aspect.

Comme pour ouvrir les précédentes, il faut, pour ouvrir celle-ci, les trois clefs et les trois personnages ès noms et qualités. Son parement étant en pierre de taille et blindé d'acier par derrière, cette porte est excessivement lourde, et il eût été impossible de la faire tourner sur ses gonds; aussi pivote-t-elle sur elle-même, à la façon des portes italiennes.

Cette porte ouverte, on se trouve devant une sorte d'escalier en spirale, très-étroit et praticable seulement pour une personne d'un embonpoint modéré.

Constatons que cet escalier est lui-même séparé en quatre compartiments par trois portes de fer, fermées chacune de trois clefs et ne s'ouvrant, par conséquent, qu'en la présence du cerbère officiel.

Cet escalier a quarante-trois marches et conduit auprès d'une dernière porte tout aussi blindée que les autres, fermée de trois clefs et ne s'ouvrant... etc... comme dessus.

Nous voici enfin dans la cave proprement dite, dont les galeries ont un développement de quatre cent vingt mètres de longueur Tout le long de ces galeries et de chaque côté s'élèvent de hautes boîtes en fer, dont le couvercle a des anses et se trouve doublé de plomb. Cette doublure de plomb est encore un raffinement de précautions ; au besoin, elle peut servir à sceller les boîtes rapidement.

Les caisses portent des inscriptions relatant toutes les indications concernant les valeurs qu'elles contiennent, et en déterminant exactement les détails ; sur l'une d'elles, on lit par exemple : « Pièces de vingt francs, Monnaie de Paris, 1854, 2 millions », puis une série de chiffres et de lettres qui ont pour but de reporter facilement le caissier aux parties de la comptabilité qui concerne ces pièces.

En outre des sept portes et des vingt et une clefs dont nous venons de parler, les trésors de la Banque sont encore protégés par des dispositions dont on n'userait qu'à la dernière extrémité, et que l'on n'a pas cru devoir employer pendant la Commune.

Les caves peuvent être inondées en un instant. Tout est préparé pour qu'en un moment l'escalier puisse être comblé avec un mélange de ciment, de plâtre et de cailloux, dont le durcissement instantané garantirait la sécurité des caisses de la cave pendant quarante-huit heures au moins. Enfin, dans le cas où l'on manquerait d'eau, ou bien si l'on n'avait pas le temps de combler l'escalier, des fils électriques soigneusement cachés permettent d'allumer dans les caves des foyers pestilentiels, dont les vapeurs asphyxieraient infailliblement quiconque essayerait de pénétrer même dans l'escalier.

A cause de l'eau et des gaz méphitiques, il ne faudrait donc pas songer à enlever le trésor de la Banque à l'aide des galeries souterraines.

Mais voulût-on y parvenir ainsi, qu'on rencontrerait sur la route un obstacle presque insurmontable. En effet, les caves sont encore défendues sur toutes leurs faces par un système de construction où le fer, la pierre de taille et le ciment sont si habilement employés, qu'ils forment une cuirasse presque impénétrable, même à la mine. En effet, la mine qui serait capable de rompre cette cuirasse serait assez puissante pour faire sauter la Banque tout entière.

---

## LES BONBONS FIVALLER

En France, nos confiseurs construisent en sucre multicolore des temples, des palais, des fontaines, et il est peu de monuments qui n'aient un jour ou l'autre figuré dans leur collection.

En Espagne, ce sont surtout les saints qui sont choisis comme sujets, et aussi les héros célèbres par leurs faits ou plus simplement par les légendes que le peuple raconte sur eux. Les bonbons Fivaller sont réputés de Madrid à Barcelone.

Fivaller est le héros de l'une de ces légendes. Le roi d'Espagne était venu un jour chez le comte de Barcelone, son vassal. Le ministre qui l'accompagnait eut avec Fivaller une discussion à la suite de laquelle il donna à celui-ci un soufflet; ce à quoi Fivaller riposta par un coup de son couteau catalan, et tua le ministre sous les yeux du roi.

Le monarque lui ayant reproché la vivacité de son procédé, Fivaller répondit fièrement : « Quand je suis

dans mon droit, je m'attaquerais au *lion* lui-même. » Il voulait, par ce mot, désigner le roi qui portait un lion dans ses armes.

Le souverain parut se tenir pour satisfait de cette explication.

Mais, à quelque temps de là, Fivaller ayant été envoyé à Madrid, le roi, après lui avoir fait l'accueil le plus gracieux et le plus bienveillant, lui dit tout à coup :

« Je n'ai pas oublié ce que tu m'as dit à Barcelone. Je viens de recevoir un lion d'Afrique; tu vas combattre en champ clos avec lui. »

Fivaller, en bon Catalan, n'était pas homme à reculer. Il se présenta dans le cirque, où s'étaient réunies la cour et la ville, tout prêt à combattre.

Mais, comme il avait revêtu une cuirasse toute couverte de miroirs, le lion lâché contre lui, voyant son image cent fois reproduite en miniature, s'approcha de Fivaller de la façon la plus caressante, en essayant de lécher les lionceaux qu'il reconnaissait pour être de sa famille.

Ce que voyant, le roi dit à Fivaller :

— Tu n'es pas seulement un brave, mais encore un homme d'esprit. Tâche seulement de ne plus me tuer de ministres...

Et il le congédia en le comblant de présents.

Vous voyez qu'en Espagne on apprend l'histoire en mangeant des *dulces*...

---

## UN BIEN GROS GARÇON

Les journaux américains signalent la mort d'un homme connu sous le nom de Fat-Boy (gras garçon). David Navarro, c'était son nom, était né dans l'Illinois.

A l'âge de dix-huit ans, il pesait 720 livres; son embonpoint le fit engager par divers entrepreneurs de curiosités, Barnum entre autres.

L'été dernier, il était exhibé à Concy, et en dernier lieu à Pittsbourg. C'est là qu'il s'éprit d'une jeune fille à qui il fit des propositions de mariage, qui furent acceptées. Mais les parents de sa fiancée s'opposèrent au mariage, qui n'eut point lieu. De dépit, Navarro se retira dans la vie privée, rompant ses engagements avec son dernier barnum. Il fut atteint quelque temps après de la petite vérole et porté par sept hommes des plus vigoureux de Pittsbourg au *pest-house* (hôpital). Chaque fois qu'il faisait un mouvement, son lit se rompait, et il était précipité sur le plancher, d'où il fallait beaucoup de temps et de peine pour le relever et le porter dans un autre lit. Ces chutes et ces déménagements répétés à la période la plus critique de sa maladie l'ont naturellement aggravée, et le « garçon gras » a expiré en cassant son dernier lit.

---

## UNE LÉGENDE DE CHARLEMAGNE

Pétrarque avait recueilli la légende suivante sur les amours de Charlemagne, légende quelque peu oubliée aujourd'hui, mais curieuse à plus d'un titre.

Charlemagne était devenu éperdument épris d'une femme jeune et belle qui s'était consacrée à Dieu. Cette femme mourut, mais non l'amour de l'Empereur, dont toute la passion se reporta sur le corps de cette femme qu'il avait fait embaumer et conserver dans un riche cercueil. L'archevêque Turpin, qui dans ce mystérieux amour vit l'œuvre mystérieuse de quelque

magicien, fit ouvrir le cercueil de la morte et sous la langue découvrit un anneau qu'il prit et garda sur lui.

Toute l'affection comme toutes les attentions de Charlemagne se portèrent alors sur l'archevêque, qu'il ne voulait plus quitter. Turpin, embarrassé de cet anneau fatal, le jeta dans un étang. Aussitôt tout l'amour de l'Empereur pour la femme, toute son affection pour l'archevêque se reportèrent sur le site. Il en devint en quelque sorte amoureux, y fit bâtir une église et un monastère, déclara ce lieu sacré et voulut y être enterré.

Ainsi fut fondé Aix-la-Chapelle.

---

## LA COQUILLIÈRE ET L'HUITRIÈRE

En termes typographiques, on appelle *coquille* la grosse erreur, très-souvent bouffonne, que produit l'addition, la substitution ou l'interversion d'une on de plusieurs lettres dans un mot. L'*huîtrerie*, si je puis ainsi dire, est la drôlerie de pensée, l'erreur de plume qui, par précipitation, par manque de réflexion, échappe souvent à l'écrivain.

Ce mot d'*huîtrerie,* dit M. Claretie, n'est pas nouveau d'aillleurs. Victor Jacquemont, cet autre sceptique d'un grand cœur, écrivait volontiers que l'espèce humaine était en proie à l'*huîtrerie* et, sottisière, se contentait de penser *huîtrièrement.*

Il se produit quotidiennement, dans les journaux et les livres, des *huîtreries* étonnantes, et il y a des *coquilles* célèbres, historiques. Lorsqu'on imprimait d'un homme politique : « Sa *rapacité* est bien connue, » — pour sa *capacité;* — lorsqu'on

faisait dire à l'abbé Sieyès : « *J'abjure* solennellement la République », au lieu de : « *J'adjure* la République ! » — lorsque la *Gazette de France* publiait cette nouvelle : « M. de Caulaincourt vient d'être créé duc de *Vincennes* », au lieu de duc de Vicence; lorsqu'à la grande fureur de Napoléon Ier et à l'indignation de l'empereur de Russie, le *Moniteur*, au moment de l'alliance entre l'empereur des Français et le tsar Alexandre, typographiait ainsi : « Ces deux souverains dont *l'un* ne peut qu'être invincible », — une phrase diplomatique où il était dit : « Ces deux souverains dont *l'union* ne peut qu'être invincible », je ne suis pas sûr que les imprimeurs n'eussent point mis un grain de malice dans ces substitutions de lettres qui courent les recueils d'*anas*.

On emplirait un volume, au bout du compte, avec la liste de toutes ces coquilles : « La vertu doit avoir des *bornes !* » écrit un jour Alphonse Karr. — On imprime : La vertu doit avoir des *cornes*. L'*amiral* devient un *animal*. Les *gredins* de l'amphithéâtre prennent la place des *gradins*. Tel orateur à bout de ses *forces*, devient à bout de ses *farces*. J'avais écrit, un jour, que la renommée de M. Auguste Barbier était solidement assise sur ses *lambes*. J'ouvre le journal : c'est assise sur ses *jambes* qu'on a imprimé !

Dans plus d'un bureau de rédaction on compose donc ainsi, en accrochant à la muraille, en y collant avec des pains à cacheter une suite de petits bouts de papier découpés au ciseau — et souvent bêtes à couper au couteau — une sorte de Musée des coquilles et des naïvetés du journalisme courant. C'est, encore une fois, ce que j'appelle l'*Huîtrière*.

Lorsqu'il collaborait à la *Petite République française*,

Tony Révillon avait tapissé son bureau tout entier de ces *huîtreries*, dont quelques-unes étaient colossales. Aux bureaux du *Temps*, il est aussi un petit parc aux huîtres et aux coquilles, et souvent, entre deux corrections d'épreuves, c'est un plaisir de relire quelques-unes de ces niaiseries, cueillies un peu partout, et dont les écrivains ne sont pas toujours responsables. Huîtrerie et coquilles mêlées!

J'en ai relevé, du bout du crayon, quelques-unes l'autre matin, et je les citerai sans nommer, s'il vous plaît, leurs auteurs, qui en sont tout simplement peut-être les éditeurs responsables.

Il y a la *coquille* railleuse :

« Mlle Sarah Bernhardt vient *d'épuiser* M. d'Amala ou Damala. »

Il y a la *coquille* navrante :

« La pauvre mère s'est *épanouie* quand, en rentrant chez elle, elle a trouvé son enfant mort. »

Il y a l'*huitrerie* sentimentale :

« Tout Arabe condamné à mort pour meurtre doit être impitoyablement livré au bourreau. Sa tête doit être tranchée : *mourir fusillé est pour l'Arabe relativement agréable.* » (Extrait d'un journal algérien.)

Il y a les drôleries des comptes rendus dramatiques :

« On ne respirait plus dans la salle. Ce drame net, rapide, presque brutal, faisait l'effet d'un duel où l'une des lames, après un court engagement, s'enfonce dans la poitrine de l'autre. »

« Mlle Bilbaut-Vauchelet est une jolie personne qui se sert habilement de sa charmante voix pour jouer agréablement de la flûte. »

« Mlle Montbazon est une étoile en herbe. »

« Le talent de Mme Judic est comme un verre de champagne ; mais il n'y faut pas porter le scalpel, sous peine de ne plus trouver au fond qu'une poignée de cendres. »

Il y a les niaiseries macabres des cimetières :

« Ci-gît Joseph Corvillon, décédé à l'âge de vingt-six ans. Il gagnait déjà 2,400 francs. »

Il y a les bouffonneries des paroxystes du style :

« Méprisons les milieux surchauffés où se complaisent les imaginations fiévreuses dans la recherche continuelle d'un beau fugace et le contact incessant des caresses et des séductions hystériques. »

« ...Mais à la vue de ces fruits de printemps qu'elle ne pouvait plus croquer, elle songeait à sa jeunesse, aux plates-bandes foulées du jardin villageois et *aux radis roses que son cousin Etienne avait sur chaque joue*. » (*La Citoyenne*, 8 mai 1881.)

Il y a les *huîtreries* du fait divers :

« *Si sa veuve lui survit*, la malheureuse méritera toute notre pitié. »

« L'empereur d'Allemagne, qui visitait l'autre jour l'Observatoire de Hambourg, répondit d'un ton affable au sénateur Hertz : — Je n'ai pas compris ce que vous avez dit; *aussi j'ai eu grand plaisir à vous écouter*. »

« Il y a quelques jours, le gardien de la salle française du Louvre, où se trouvent placés les tableaux de Léopold Robert, s'aperçut de la disparition d'un *tableau de grand volume, quoique de petite taille*. C'était une toile de 8 de Lenain. »

« Tcherkesof a été reconduit hier à la frontière suisse. Il est parti de la gare de Lyon pour Genève, accompagné par un agent de la sûreté. Comme il se

plaignait beaucoup du froid, l'*administration lui a prêté son pardessus* qu'il a conservé pendant son trajet. »

« *Un homme bien décidé à mourir* est celui dont deux mariniers ont repêché le cadavre dans la Seine, hier, vers deux heures de l'après-midi. » (Journaux du 8 avril.)

« A propos de l'affaire Bernays-Vaughan. L'attention de Mme D..., qui a fait arrêter le coupable, avait été attirée par le teint basané de cet étranger, par sa démarche particulière. Elle eut la conviction que celui qui venait de s'adresser à elle devait avoir habité l'Amérique, *et cette conviction s'affermit par la pensée qu'elle avait perdu un de ses proches à Buenos-Ayres.* » (Extrait de l'*Organe* de Mons.)

Il y a les ironies des annonces :

« A louer, à Dieppe, une villa *luxurieusement* meublée. »

Mais il faut bien le reconnaître — c'est la politique qui fournit le plus de *pièces curieuses* à la Coquillière ou à l'Huîtrière du journal. Discussions politiques et grands mouvements oratoires poussent à cette douce prud'homie qui fait *naviguer le char de l'Etat sur un volcan* et rend un sabre *le plus beau jour de la vie*.

---

# LE CRÉDIT FONCIER DE FRANCE

Le Crédit Foncier est la banque nationale de la propriété immobilière Il a aujourd'hui un capital social de 155 millions de francs, divisé en 310,000 actions de 500 fr chacune, entièrement libérées. Comme la Banque de France, il est administré par un gouverneur et deux sous-gouverneurs nommés par le président de la République ; il

est représenté en province par les receveurs des finances pour le placement des titres, et par des agents spéciaux pour ses opérations de prêts.

Le grand avantage du Crédit Foncier est de consentir à la propriété des prêts à long terme amortissables par annuités. Il prête en numéraire jusqu'à concurrence de la moitié de la valeur de l'immeuble hypothéqué, et pour une durée qui varie de 10 à 75 ans.

L'annuité qu'il reçoit comprend l'intérêt à 4 fr. 90 p. 100, plus l'amortissement qui varie suivant la durée du prêt. Pour un prêt de 75 ans, l'intérêt est de 5 p. 100, et l'annuité, interêt et amortissement compris est de 5 fr. 13 p. 100

Le propriétaire qui préfère le prêt à court terme de trois, quatre ou cinq ans, sans amortissement, trouve les mêmes facilités au Crédit Foncier, qui lui prête au taux de 4 fr. 90 c. p. 100.

Cette Société prête non-seulement aux particuliers, mais aussi aux départements, aux communes, aux établissements publics.

Pour faire face à toutes ces opérations, le Crédit Foncier a le droit d'émettre des obligations foncières et communales, à lots ou sans lots, que l'on peut appeler privilégiées, à cause des garanties spéciales dont elles sont entourées. Il émet en ce moment des obligations foncières à 480 francs, remboursables à 500, qui produisent un revenu annuel de 20 francs, c'est-à-dire 4 p 100 net d'impot.

Les obligations du Crédit Foncier sont garanties d'abord par le capital social, qui doit être au moins égal au vingtième des obligations émises ; elles sont surtout garanties par les prêts réalisés, dont le montant doit être toujours égal à la somme des obligations en circulation.

Ces règles si sages ont décidé du succès de la Société. La somme des prêts réalisés s'élève en ce moment au chiffre énorme de 2 milliards de francs.

L'Institution doit beaucoup aussi à l'habile direction du gouverneur actuel. L'honorable M Christophle a donné une grande impulsion aux opérations hypothécaires ; il a cherché par la création de succursales dans les départements à étendre l'action bienfaisante du Crédit Foncier à toutes les parties du territoire. La moyenne des prêts réalisés chaque année est maintenant de près de 400 millions de francs ; elle était a peine de 55 millions il y a quelques années. Ajoutons, comme élément de comparaison, que la somme des prêts réalisés par toutes les Sociétés hypothécaires de l Allemagne, terre classique du Crédit Foncier, ne dépasse pas une moyenne annuelle de 60 millions.

Ces chiffres ont leur signification. Ils montrent que le Crédit Foncier est devenu, par l'étendue des services qu'il rend à la propriété immobilière, la première banque foncière du monde, et que si l idée première de sa fondation est venue de l'étranger, l'application qui en a été faite par la méthode française fait le plus grand honneur au genie pratique de nos administrateurs.

# VARIÉTÉS

Un soir, à Bade, Cham et Dantan entrèrent dans la salle des jeux. C'était au beau milieu de la saison; tout le *high life* était là, prodiguant les billets de banque que ramenait l'infatigable râteau des croupiers.

Cham s'approche de la table, donnant des signes d'une vive émotion, et dépose à la rouge... une pièce de cent sous.

La bille commence à tourner dans le cylindre : Cham est attentif.

Soudain, au moment où l'on va proclamer le numéro sortant, Dantan s'élance sur la pièce de Cham en bousculant les personnes présentes et en s'écriant :

— Le pain de vos enfants ! jamais !

Et il ramasse la pièce avec une solennité pathétique.

*
* *

La gratuité, sollicitée et obtenue par les députés, a fourni à Pif, du *Charivari,* quelques croquis pleins de verve.

L'un représente un huissier de la Chambre portant sa montre bien en vue pendue à sa chaîne d'acier.

Les députés ne songeant plus qu'au départ des trains, les huissiers auront désormais l'heure des chemins de fer.

Dialogue en fiacre :

— Cocher, si vous vous obstinez à aller aussi doucement, je ne vous paye pas.

— T' es donc député?

Enfin, le comble de la gratuité. La préposée de certain petit établissement court après un honorable.

— De quoi!... partir sans me payer mes quinze centimes!

— Mais je suis député, madame.

* * *

Madame la duchesse d'O. avait coutume d'aller dans le monde avec son chevalier, le baron P.

Madame la duchesse d'O...

Un soir, chez la marquise, Baptiste annonce ainsi :

— Madame la duchesse d'O. et M. le baron P.

On se regarde en souriant, quelques femmes rougissent.

La marquise dit le lendemain à son valet :

— Baptiste, vous ne commettez que des erreurs. Vous avez annoncé : madame la duchesse *et* M. le

baron; c'est très-inconvenant. On dit : madame la duchesse d'O. — on respire, on prend un long temps, et on ajoute sans *et* : M. le baron P.

— Bien, madame, dit le bon domestique. Et la fois suivante il fit comme on le lui avait commandé.

Seulement le baron n'accompagnait pas la duchesse, ce qui fit d'autant plus rire.

*
* *

Un touriste visitant les ruines de Pompéi se fait expliquer la manière dont la ville a péri, comment elle a été ensevelie sous une pluie de cendres sortie des flancs du Vésuve.

— A quelle date, demande-t-il, a eu lieu cet épouvantable événement?

Le cicerone déclare qu'il n'en sait rien.

— Au fait, se dit le touriste, en réfléchissant, ce doit être le mercredi des Cendres...

*
* *

Un promeneur distrait à son ami en se promenant sur le boulevard et lui montrant un petit homme qui rappelle M. Thiers par sa taille et sa démarche :

— Tiens, regarde donc, M. Thiers.

— Mais non, tu sais bien qu'il est mort...

— Ah ! c'est vrai... il serait en deuil...

*
* *

Le commandant Coup de vent de tribord, d'une ancienne famille de marins et lui-même un vieux loup de mer, est doué d'un cœur excellent; il est membre de la Société protectrice des animaux.

L'autre jour, sortant du cercle des Marsouins,

certainement le mieux fréquenté de tout Brest, il était furieux contre un gommeux local.

— Voyez-vous, disait-il, ce freluquet, ce blanc bec; rien, rien là. Et il frappait sur sa vaste poitrine. Tout à l'heure, il parlait de flanquer un coup de fusil à son chien, là, tout tranquillement, comme je pourrais parler de bombarder un port...

*
* *

Un passant à qui un petit mendiant courait, lui a donné quelque chose.

Un des camarades du gamin accourt dès que le passant s'est éloigné.

— Qu'est-ce qu'il t'a donné ? demande-t-il.

L'autre, d'un ton dédaigneux:

— Oh ! rien,... un bon de pain.

*
* *

Un homme célèbre vient de mourir; on lui a élevé une statue, et le jour de l'inauguration de superbes discours ont été prononcés.

— C'est bien cela, reprend majestueusement M. Prudhomme, en regardant le plus beau jour de sa vie — son sabre de garde national — on jette des fleurs sur la tombe des gens célèbres, on leur rend tous les honneurs après leur mort, et personne, non, jamais personne ne s'avise de signaler leur naissance.

*
* *

Un créancier, furieux de se voir ajourné sans cesse, disait à son débiteur, un jeune gommeux de grand sang-froid :

— Je veux mon argent.

— Moi, je vous répète que je n'ai rien, je dois à Dieu et à diable.

— Ça ne me regarde pas, payez-moi d'abord.

Le gommeux de son air le plus froid et le plus digne :

— Comment, des passe-droit, des préférences...? Mais pour qui donc me prenez-vous ?

* * *

Pauvre Lili doit, de par ordonnance du médecin, recevoir un remède administré par un vase dont la forme ne rappelle nullement le verre à boire...

Lili se révolte et pleure...

— Non, je ne veux pas boire à reculons, moi, na !...

* * *

Madame C... demande à son domestique :

— Mais comment avez-vous fait pour casser ce vase?

Baptiste prenant cependant son air le plus tranquille :

— Oh ! mon Dieu, madame, c'est bien simple : j'ai pris le vase comme ça... je l'ai cogné comme ça contre la pendule.

Et il casse l'autre.

* * *

A propos du mariage, Saint-Germain, l'humouristique artiste dramatique, disait :

« Le mariage est comme une ville assiégée : ceux « qui sont dedans voudraient bien en sortir, et ceux « qui sont dehors voudraient bien y entrer. »

# AGRICULTURE ET HORTICULTURE

## INFLUENCE DES FORÊTS SUR LE CLIMAT DU GUATEMALA

On s'est élevé souvent et avec raison contre l'abus du défrichement, contre cette guerre déclarée à la forêt. Voici un nouvel exemple de ce que peut coûter la coupe exagérée des bois.

La déforestation croissante aux environs des villes de l'Amérique centrale n'a pas tardé à produire un changement de climat dont on commence à s'inquiéter, surtout à Guatémala.

Dans cette capitale, d'après l'*Ausland*, l'uniformité du climat disparaît en même temps que les bois diminuent ; les récoltes sont moindres, moins sûres ; des maladies nouvelles apparaissent, les saisons sont plus capricieuses, elles empiètent plus les unes sur les autres ; des années sont trop sèches, d'autres sont trop pluvieuses.

Déjà le bois de construction et le bois de chauffage manquent à Guatémala, les orages y sont plus terribles qu'autrefois ; le thermomètre a des oscillations qu'il neconnaissait pas : en 1875, il a neigé sur cette ville, chose inouïe depuis cinquante ans.

La destruction de presque toutes les forêts entre cette capitale et San José de Guatémala, son port sur le Pacifique, a exposé les habitants aux miasmes qui naissent des marais du littoral, et maintenant on fait des plantations au sud de la ville pour essayer de la préserver.

Près de Sensutépec, dans le Salvador, sur le plateau, on a abattu toutes les forêts, dans un rayon de

six lieues, pour planter un excellent indigo nommé *jiquilite*.

Depuis cette dévastation, Sensutépec, qui ne connaissait que des orages d'une violence moyenne, en voit éclater de terribles, et bien plus nombreux qu'autrefois.

Quant au plateau de Guatémala, il est sec, sans eau.

On plante maintenant beaucoup d'eucalyptus dans le pays, surtout dans les lieux marécageux, pour essayer de remplacer les forêts disparues.

## LE COLZA, PLANTE ABRI POUR LES VIGNES

Beaucoup de moyens ont été tentés depuis bien des années pour préserver la vigne des gelées blanches. Abris de toile, de paille, de papier, tendus et portés par différents systèmes d'attache ou de suspension; sacs, fourreaux, capuchons, destinés à emmaillotter les bras de la vigne et leurs bourgeons; puis les nuages artificiels, le moyen le plus sûr et le plus économique, assurément, s'il n'était pas aussi fugace et aussi capricieux. Tous ces moyens sont plus ou moins efficaces et dispendieux, mais il en est un, paraît-il, qui serait plus économique peut-être, et même profitable à la culture, qui offrirait l'avantage inappréciable et décisif d'être permanent, c'est-à-dire de ne demander aucune surveillance, de n'occasionner ni dérangement ni perte de temps. C'est un viticulteur distingué, M. E. Terrel des Chênes, qui y a songé.

M. Terrel a remarqué sur le bord des routes, dans les vignes pauvres, des places verdoyantes et de forme ovale dues à l'ombre que produisaient des pêchers voisins plantés sur le bord de ces routes. Pénétré de ce fait, M. Terrel a pensé qu'on peut donner à la vigne,

en la plaçant dans la position voulue, en regard à la direction du soleil levant, un abri permanent qui lui procurera l'ombre salutaire, et que l'on enlèvera lorsque tout danger aura disparu. En effet, on ne voit pas d'inconvénient à semer, par exemple, à l'automne, tout près de chaque pied de vigne, un petit groupe de plantes herbacées qui monteraient à l'époque ordinaire des gelées, et épanouiraient leurs fleurs autour et au-dessus des souches raccourcies par la taille. Puis cette œuvre de salut étant accomplie, elles seraient enfouies au premier labour et deviendraient un engrais et un amendement, rendant ainsi au sol plus que ce qu'elles lui auraient emprunté. Ces plantations fleuries et feuillées préserveraient les vignes, puis deviendraient des auxiliaires souterrains et puissants.

Une plante qui paraît désignée par sa rusticité et par les époques de sa montée et de sa floraison, pour rendre à la vigne le service requis, c'est le colza.

Il sera donc facile de se rendre compte de l'effet produit, et si par d'autres causes que la gelée blanche, la vigne ne portait que peu ou point de fruits, on pourrait trouver dans la récolte des colzas une légère compensation.

## LES CÈDRES DU LIBAN

Les plus gros cèdres du Liban, qui, sur un monticule isolé au milieu du vaste plateau que domine au nord-est le Djbbel-Makmel, la plus haute cime du Liban, font l'ornement de l'antique forêt d'Ebcharreh, tendent à disparaître. Ces arbres séculaires, objet d'une grande vénération de la part des Arabes, ont beaucoup souffert des visiteurs qui viennent de Tripoli et de Beyrouth pour les contempler.

Les cèdres du Liban.

Déjà les autorités du pays avaient fait construire, autour de ces témoins des âges écoulés, un mur d'enceinte afin de rendre plus facile la surveillance du gardien préposé au service de l'enclos. Pour mieux assurer leur conservation, le gouverneur général du Liban, Rustem-Pacha, vient de prendre un arrêté daté du palais de Beit-Eddin, contenant les dispositions suivantes :

« Les cèdres d'Ebcharreh seront accessibles à tous les voyageurs, mais il sera interdit de dresser des tentes dans l'intérieur de l'enclos, d'y établir des campements ailleurs que dans les endroits qui seront désignés par le gardien, d'allumer des feux à proximité des arbres, de couper des branches ou des rameaux, de faire entrer dans l'enceinte les montures des voyageurs. Les drogmans et les guides seront responsables des infractions qui seraient commises. »

Cet avis est d'autant plus nécessaire que dernièrement trois des plus gros cèdres du bois d'Ebcharreh ont été brûlés et en partie détruits par l'imprudence de touristes, qui avaient installé des fourneaux et leur cuisine près de ces colosses de la montagne, dont le nombre est maintenant bien réduit.

C'est à peine si l'on en compte six, que leur masse peut faire supposer contemporains des temps bibliques; ils mesurent environ douze mètres de circonférence. Leurs troncs sont dénudés, leur écorce est coupée, tailladée, sculptée de mille manières par le couteau des voyageurs. Ils recouvrent de leur ombrage une chapelle carrée dont la pierre tendre a reçu également l'empreinte d'une quantité de caractères européens et orientaux.

Chaque été les populations d'Ebcharreh, d'Ehden,

de Kanobin et des contrées voisines, montent aux cèdres, et le patriarche des Maronites y fait célébrer une messe. A côté de ces quelques géants du Liban s'élève une petite forêt de cèdres plus jeunes, formant un groupe de trois à quatre cents arbres, dont plusieurs sont remarquables pour la beauté de leur feuillage.

## LE PARFUM DE LA VIOLETTE ET SES LÉGENDES

La violette et ses parfums, fort recherchés de nos jours, étaient en honneur dès la plus haute antiquité.

C'était pour les Grecs et les vieux Celtes le symbole de l'innocence et de la virginité. Ils en décoraient la couche de la mariée et le cercueil de la jeune fille enlevée aux caresses de sa mère.

Les belles Athéniennes paraient leurs cheveux de guirlandes de violettes et leur sein de bouquets odoriférants. La vallée de Tempé fournissait en abondance les violettes les plus parfumées, et les paysans de la contrée apportaient chaque matin aux marchés d'Athènes des corbeilles de ces fleurs aimées.

Rien n'est charmant comme la violette mythologique.

La nymphe Io, aimée d'Apollon, résiste à ses instances. Le fils de Jupiter et de Latone la métamorphose en violette. Depuis lors, la modeste fleur fuit l'éclat du jour. Elle est devenue l'emblème de la pudeur et se dérobe aux regards des profanes.

Vulcain, ce dieu laid et contrefait qui reçut de son père Jupiter le coup de pied qui le rendit boiteux, ne pouvant se faire aimer de Vénus, sa femme, se couronna de violettes, et la déesse des Grâces, sensible au parfum de ces fleurs, eut un moment de tendresse pour Vulcain, malgré sa laideur repoussante.

Dans l'art culinaire, la violette est d'un usage très-

fréquent. On compose des liqueurs, des sorbets, des conserves, des glaces, des marmelades, des bonbons et des bouquets sucrés à la violette.

Dans l'industrie de la parfumerie, l'eau de violette est encore aujourd'hui l'eau de senteur à la mode. L'achat de cette fleur, pour les besoins du commerce de la parfumerie de Provence, donne lieu à d'importantes affaires. La violette double, celle dite de Parme, la plus recherchée, abonde dans les bois; elle est en outre très-cultivée. C'est à Grasse principalement que sont dirigés les envois de ces fleurs transportées par quintaux dans de grandes corbeilles, provenant des jardins et des vallées des départements du Var, des Alpes-Maritimes, etc.

---

## EXPOSITION DE BELGIQUE. (PALAIS DU MIDI)

En Belgique, on se préoccupe beaucoup plus qu'en France de la mortalité des enfants. En 1880, la ville de Bruxelles était pavoisée. Au palais du Midi, il y avait grande fête. C'était la distribution des récompenses aux exposants. Cette cérémonie imposante était présidée par le roi des Belges. Lorsque le président appela le nom de M. Robert, inventeur et fabricant du Biberon-Robert, place Daumesnil, à Paris, auquel le jury avait décerné une médaille d'or pour son ingénieux système du Biberon-Robert, une salve d'applaudissements partit de la foule. Le jury belge avait compris l'importante valeur du Biberon-Robert, qui rend de si grands services à l'humanité, car des docteurs français ont constaté une décroissance de 10 0/0 dans la mortalité des nourrissons élevés au Biberon-Robert. La mère belge se méfie des contrefaçons et a bien soin de lire sur le flacon et sur le bouchon (Biberon-Robert). Dans un but d'humanité, nous conseillons aux mères françaises de prendre les mêmes précautions.

# LES NOUVEAUX FUSILS DE CHASSE

M. G. de Magnitot, agronome distingué, écrivain plein d'humour, collaborateur très-remarqué de revues spéciales, telles que l'*Aviculteur*, la *Chasse illustrée*, etc., s'est adonné, avec l'esprit d'observation qui le caractérise, à l'étude des effets du tir des nouvelles armes de chasse.

On sait que notre compatriote M. Galand, l'armurier parisien universellement connu, a importé chez nous, dès 1875, un nouveau procédé de forage qui double et triple la portée des fusils. Il y a plusieurs années déjà, des maîtres en l'art cynégétique, tels que M. le marquis de Cherville, M. E. Bellecroix, et en même temps qu'eux, tous les grands journaux de Paris, avaient signalé la supériorité des canons *choke-bored* de M. Galand, et l'immense avantage que procure au chasseur un fusil permettant de *doubler* la pièce à grande distance, lorsqu'on l'a manquée de son premier coup de feu.

Depuis lors, de nouveaux progrès ont été réalisés par M. Galand, et ses armes sont arrivées à un tel degré de perfection qu'elles logent « plus de 86 pour 100 de leur charge de plomb dans un journal déployé à 40 mètres; — *distance déjà fort belle*, dit M. de Magnitot, *et qui comprend dans ses limites*, ajoute-t-il malignement, *les trois quarts des coups de 70 et 80 mètres des amateurs enthousiastes de leurs succès* ».

C'est surtout la constatation des différences de portée et de pénétration existant entre les petits et les gros calibres qu'ont eu pour but les essais et les expériences dont M. de Magnitot a rapporté les résultats. Il affirme que c'est une erreur de croire que les petits calibres garnissent et piquent mieux que les gros, et il le prouve en citant de nombreux chiffres comparatifs.

« M. Galand, raconte-t-il enfin, m'avait tellement ébloui par les merveilles dont il créditait le calibre 10, — selon lui le roi des fusils, — que je me laissai tenter et le prial de m'en établir un, bien entendu *choke-bored*.

« Je ne vous citerai pas de faits de chasse, cela a l'air d'une manière déguisée de se bâtir un petit piédestal, quoique tout le mérite soit à l'arme. Ainsi, chez mon ami de C..., sans mon *choke-bored*, je n'aurais même pas tiré les neuf lièvres qui, dans une battue, manqués par l'un de mes voisins, croisaient à grande distance devant moi, et furent, tous les neuf, *collés en tas*, sans plus remuer qu'un de ces innocents foudroyé en passant à quinze pas! »

Inutile de dire, après cela, en quelle estime M. de Magnitot tient les fusils Galand de tous calibres, et combien il apprécie les théories que le premier de nos armuriers a si savamment élucidées dans le *Traité d'armurerie* dont il est l'auteur, et qu'il envoie gratuitement à qui le réclame par lettre à ses bureaux de la rue d'Hauteville.

Nous ressentons quelque fierté d'avoir été bon prophète et d'avoir promis à ce livre et à son auteur le grand succès qu'ils obtiennent l'un et l'autre.

DE WARNES.

## LES ANIMAUX CRIMINELS

A mesure que l'homme s'élève, remarque le naturaliste Pierquin, il traite les animaux comme si ceux-ci baissaient. Longtemps les animaux eurent les mêmes droits, et pendant tout le moyen âge ils furent mêlés aux cérémonies religieuses. A Milan, ils figuraient dans les fêtes des rois. Il y a des processions d'animaux dans les bas-reliefs des cathédrales de Strasbourg, du Mans, de Vienne (Isère).

Le mercredi saint, tout le clergé de l'église de Reims se rendait à Saint-Remi pour y faire une station; les chanoines, précédés de la croix, étaient rangés sur deux files, et tous traînaient derrière eux un hareng attaché par un ruban : chacun était occupé de sauver son poisson et de marcher sur celui du chanoine qui le précédait. A Paris, la procession du renard était aussi goûtée que la fête de l'âne. Cet animal, vêtu d'une espèce de surplis, ayant la mitre, figurait au milieu du clergé ; on mettait de la volaille à sa portée; il oubliait souvent ses pieuses fonctions pour se jeter sur elle, et la dévorait en présence des fidèles. Philippe le Bel aimait beaucoup cette procession. Il y a quelques années à peine, la promenade du bœuf gras était un reste des fêtes païennes, une véritable épave de civilisations disparues.

Si les droits des animaux étaient ainsi reconnus, leurs devoirs envers l'homme n'avaient pas échappé aux premiers législateurs, qui punirent sévèrement leurs crimes ou attentats à la vie humaine. Voici une loi de Moïse : « Si un bœuf frappe de la corne un homme ou une femme, et que la personne en meure, le bœuf sera absolument lapidé, et on n'en mangera point la chair; mais le maître du bœuf sera jugé in-

nocent. Mais s'il y a déjà quelque temps que le bœuf frappait de la corne, que le maître en ait été averti, et qu'il ne l'ait point gardé, de sorte qu'il tue un homme ou une femme, le bœuf sera lapidé et le maître mis à mort. »

La procession du renard.

Il y eut de semblables jugements à Athènes et à Rome.

Démocrite voulait qu'on punît de mort l'animal qui avait occasionné quelque dommage majeur. Sous Domitien, au rapport de Martial, l'ingratitude d'un lion envers son maître fut sévèrement punie. Columelle et Varron disent que les anciens Romains regardaient le bœuf comme le compagnon des travaux

de l'homme, et que l'acte de le tuer était regardé comme homicide et puni de même. Dans l'Attique et le Péloponèse, le bœuf jouissait du même privilége. » On dit aussi qu'autrefois les Arabes, dans les montagnes d'Afrique, attachaient en croix sur des arbres les lions meurtriers, afin qu'ils pussent servir d'exemple aux autres.

Au moyen âge, on jugea les animaux qui se rendaient coupables de meurtre, ceux qui devenaient les fléaux d'un pays, ou les femelles qui, donnant la vie à un monstre, étaient soupçonnées de cohabitations criminelles.

Le Père Théophile Raynaud, Ayrault, Gaspard Bailly, puis, plus près de nous, M. Benoist Saint-Prix et M. Louandre, ont cité des exemples excessivement curieux de ces condamnations.

En 1120, l'évêque de Laon lança un bref d'excommunication contre les chenilles et les mulots. Sous François Ier, on donnait encore un avocat d'office à ces animaux, et l'on plaidait contradictoirement leur cause et celle des fermiers.

En 1356, à Falaise, une truie avait tué un enfant et commencé de le dévorer. Le juge la condamna à périr par le glaive. Comme elle avait rongé un bras et une partie de la tête de l'enfant, on lui coupa une patte, et elle fut mutilée « au visage ». Puis, avant de la conduire au supplice, elle fut recouverte de vêtements d'hommes, et, suivant l'usage, le bourreau reçut pour sa peine et salaire dix sols et une paire de gants.

En 1548, il y eut un arrêté des consuls et échevins de Grenoble qui demandent qu'on excommunie les limaçons et les chenilles.

En 1585, le grand vicaire de Valence, dans une sentence, enjoint aux chenilles, dont le pays est infesté, de déguerpir du diocèse.

En 1587, on intenta un procès contre des insectes qui ravageaient un champ près de Saint-Jean-de-Maurienne. Les insectes furent condamnés.

Jean Milon, official de Troyes, rendit cette sentence le 9 juillet 1516 : « Parties ouïes, faisant droit sur la requête des habitants de Villenove, admonestons les chenilles de se retirer dans six jours, et à faute de ce faire, les déclarons maudites et excommuniées. »

M. Benoist Saint-Prix a relevé 80 condamnations à mort ou excommunications prononcées (de 1120 à 1741) contre toute espèce d'animaux, depuis l'âne jusqu'à la sauterelle.

Ajoutons que si dans quelques pays les animaux ont été employés comme bourreaux, en France ils furent plusieurs fois admis comme témoins dans les procès. Qui ne se rappelle l'histoire du chien de Montargis et du duel ordonné par Charles V entre le fidèle animal d'Aubry de Montdidier et l'assassin de son maître, Richard de Macaire ?

---

## JUGEMENT AU MEXIQUE

Un Français de notre connaissance nous racontait le fait suivant : un ancien payeur de l'armée française du Mexique avait acheté une maison à Mexico et l'avait payée en bon argent comptant. Lorqu'il voulut prendre possession de l'immeuble, il y trouva un locataire insolvable qui refusa absolument de s'en aller, en menaçant de son revolver quiconque voudrait le déloger. Notre compatriote employa vai-

nement tous les moyens; il offrit même une légère indemnité; rien n'y fit, l'autre ne s'en barricada que mieux. Ne pouvant arriver à occuper sa maison, l'acheteur attaqua son vendeur en justice, attaqua le locataire, et pendant dix ans, cette affaire si simple passa par toutes les juridictions, entraînant des frais considérables.

Enfin, notre compatriote eut gain de cause sur toute la ligne... mais il ne put jamais trouver un homme de loi qui voulut bien faire exécuter le jugement et expulser le singulier locataire qui exploitait d'une façon si large, à son profit, les lenteurs de la justice mexicaine.

---

## UN BALLON EN MER

Le 22 mars dernier, le ballon *le Vulcain*, parti de Menton et monté par l'aéronaute Jovis et M. Paul Ginisty, tombait à la mer à plus de vingt kilomètres au large. Il fut sauvé par une barque accourue à son secours. — Le récit de cette ascension dramatique a été fait par M. Paul Ginisty dans la lettre suivante, qui, nous le pensons, intéressera nos lecteurs :

Le nom de l'aéronaute Jovis revient souvent dans les journaux. Ce diable d'homme a fait des choses étonnantes, tout naturellement, avec une simplicité parfaite, sans pose. On a encore présente à la mémoire la dramatique aventure du *Gabriel*, qu'il montait avec MM. Allioth et Didier.

Quand Jovis parle de ballon, sa figure s'éclaire. Ce n'est plus seulement de la verve méridionale : c'est de l'éloquence. C'est un enthousiaste comme on n'en voit, à la vérité, plus beaucoup.

Ces jours derniers, je le rencontrais sur le boulevard.

— Je pars pour Menton, me dit-il ; venez-vous avec moi?

— Qui, moi, avec vous, en ballon?

— Pourquoi pas?

— Pourquoi pas, au fait?

Et, dimanche soir, je prenais le rapide. J'arrivais lundi soir à Menton. L'ascension était fixée pour le lendemain.

Le temps s'amuse à en prendre à sa guise avec les aéronautes. Il y avait eu un ciel superbe pendant un mois. Mais depuis trois jours un vent violent régnait.

L'opération du gonflement s'est ressentie de ces rafales. Elle a duré *dix* heures. C'est le premier ballon qui se soit enlevé de Menton. Aussi ne s'étonnait-on pas de ces retards. Mais Jovis s'impatientait. L'ascension avait été annoncée pour trois heures et demie. Ce n'est qu'à plus de cinq heures que nous sommes montés dans la nacelle.

Le *Vulcain* est un aérostat de petites dimensions. Il a toutefois à son acquit de glorieuses campagnes aériennes.

Les ballons-pilotes envoyés d'abord nous avaient indiqué la direction du nord-est. Si nous suivions ce chemin, nous traversions les Alpes et nous allions en peu de temps du côté d'Alexandrie.

Le *Vulcain* s'élève. Il gagne la montagne, s'engage un instant au-dessus des hauteurs, puis, tout à coup, un courant l'entraîne avec une rapidité extrême.

— Diable! dit Jovis, c'est la mer!

Et bientôt nous revoyons en effet Vintimille et Bor-

dighiera, jetées comme des points blancs sur la découpure vert sombre de la côte.

Jovis, sans rien dire à personne, s'était armé pour une descente en mer. Il comptait beaucoup sur un appareil qu'il appelle le frein aéronautique. C'est une grande poche en toile qui s'emplit d'eau et sert, à l'occasion, à maintenir le ballon à peu près captif. Malheureusement, les cordes étaient très-embrouillées, et, pendant qu'il essayait de les démêler, le vent nous entraînait au large.

Il fallait agir énergiquement. Un coup de soupape vigoureux nous fait descendre avec une vertigineuse rapidité. Un choc terrible. La nacelle s'emplit d'eau. Les vagues, très-fortes à ce moment, nous inondent.

La situation devenait critique. Nous regardons autour de nous. Nous n'apercevons qu'un grand bateau de commerce, très au loin, qui, ayant vu sans doute notre pavillon en berne, semble se diriger vers nous. Mais un nouveau coup de vent nous éloigne de lui. A ce moment, nous étions en face de Monaco. Le vent change encore, et cette fois il nous pousse vers la haute mer.

Enfin Jovis peut faire usage de son appareil, qui fonctionne, et ralentit la marche du *Vulcain*. Les lames redoublent de force, il est vrai, et par instants nous avons de l'eau jusqu'aux épaules. Pour délester la nacelle, nous jetons tout ce que nous avons et nous nous déshabillons presque entièrement. Nous n'avons plus alors que les pieds mouillés.

— Eh bien, et alors?

Il paraît que je dis ces mots d'une façon si comiquement étonnée et effarée que Jovis se mit à rire, malgré la gravité de notre position.

— Alors, répondit-il, on se cramponne bien aux gabillots, et on attend.

— Attendons donc!

Tout à coup, nous apercevons un point noir : c'est une barque! Elle se dirige vers nous. Pourvu que le vent ne nous éloigne pas! Le point noir grossit. Six

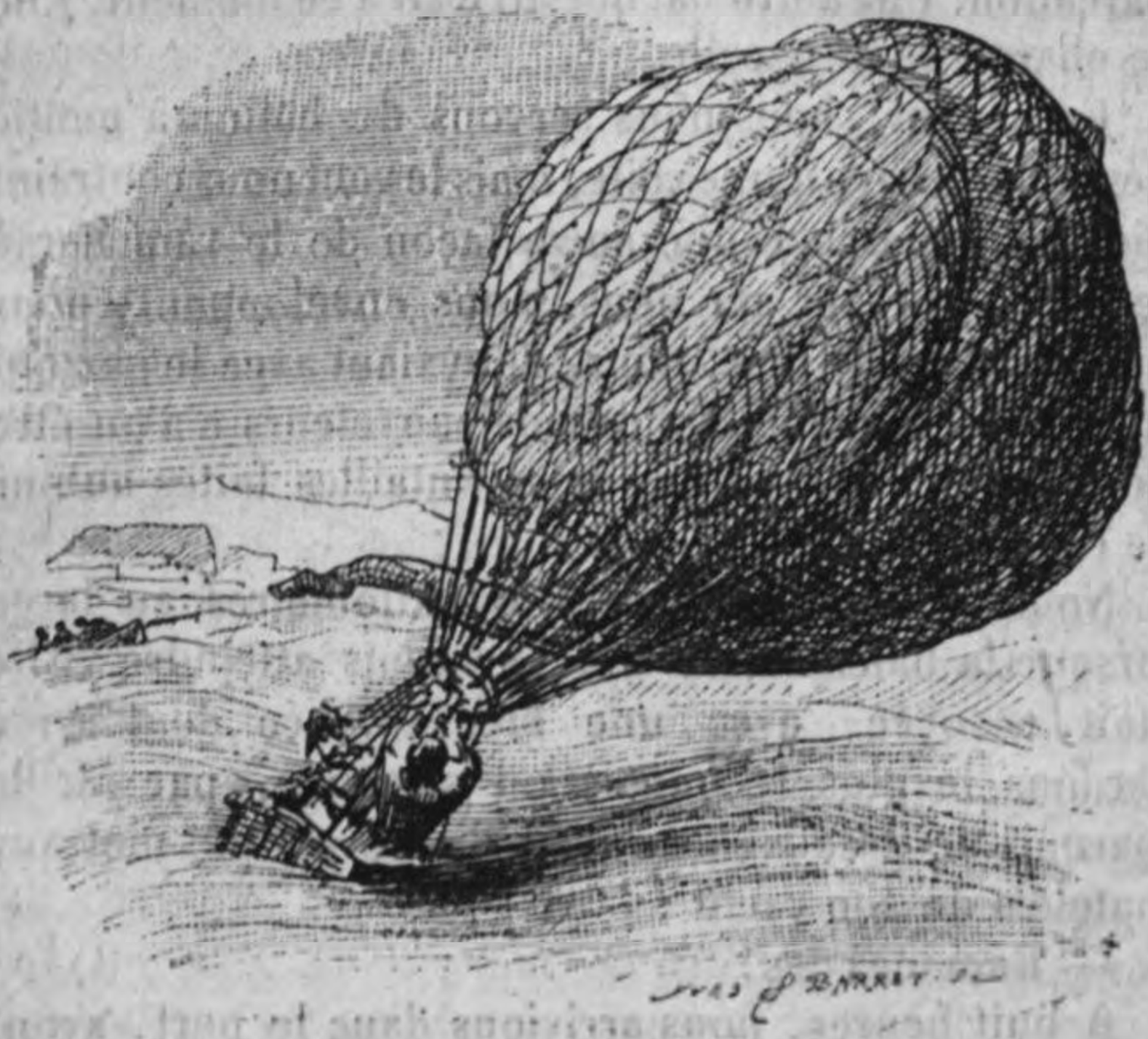

Tout à coup nous apercevons un point noir : c'est un ballon.

braves marins rament à tour de bras. Une demi-heure se passe ainsi, avec des alternatives d'angoisses et d'espérances. Par moments, nous croyons être atteints par l'embarcation, et une rafale nous pousse deux cents mètres plus loin!

Enfin, on parvient à saisir la corde du ballon. La

manœuvre n'était pas aisée, avec ce vent qui jetait l'aérostat sur la barque.

— Lâchez-vous votre *outil?* dit le capitaine de la baleinière.

— Jamais! répond Jovis.

Il tire sur la soupape, mais le gaz est long à s'échapper. Nous quittons la nacelle et sautons dans l'embarcation. Une autre barque arrivait à ce moment. Elle se charge de la nacelle.

Un instant, nous nous servons du ballon à moitié dégonflé comme d'une voile, mais le vent nous contraint bientôt à chercher une autre façon de le ramener à terre. Il se rabat sur nous, nous enveloppant, nous prenant dans le filet, nous asphyxiant avec le gaz qui fuit par la soupape. Un de nos sauveteurs n'a pu être dégagé qu'au moyen de larges entailles faites autour de lui : il étouffait.

Nous étions à plus de vingt kilomètres au large lorsque la baleinière a fini par nous atteindre. Elle était envoyée, avec une bienveillance dont nous gardons le plus reconnaissant souvenir, par M. le marquis de Préaux, qui avait dit ce simple mot aux matelots de son yacht :

— Ramenez-les!

A huit heures, nous arrivions dans le port, ayant sauvé notre ballon, et déployant notre pavillon. M. le marquis de Préaux nous recevait à bord de son yacht, où il nous offrait un cordial qui nous était bien nécessaire.

Tel est le récit de ma première ascension. Elle a été, comme vous le voyez, suffisamment mouvementée.

Paul GINISTY.

## LES FUÉGIENS

L'exhibition qui a été faite il y a quelques mois, au Jardin d'acclimatation, de onze Fuégiens, amenés de leur lointain pays au centre de la civilisation moderne, a appelé l'attention sur ces pauvres êtres de forme humaine, mais si éloignés de nous par leur intelligence et leur vie morale et matérielle.

La science moderne n'a pas sur les origines des Fuégiens de données certaines. D'Orbigny inclinait à attribuer aux habitants de la Terre de feu une parenté plus ou moins lointaine avec les Araucans. D'autres savants ont cru voir en eux des Patagons. La vérité est qu'un certain nombre de Patagons habitent la Terre de feu, mais ces Patagons, encore bien qu'inférieurs à leurs congénères du continent américain, sont supérieurs aux Fuégiens proprement dits. Sur l'origine de ces derniers, on ne sait rien. On ignore même le nom qu'ils se donnent. «Fuégien» n'est pas un ethnique national. C'est un terme proposé en 1822 par le capitaine Wedel pour désigner les habitants de la Terre de feu, de la *Tierra del Fuego,* comme dit l'Espagnol créateur de cette dénomination assez singulière pour désigner une contrée de glaces et de frimas. L'appellation «Terre de feu» est déjà une altération de «terre des feux». Magellan, en effet, traversant, au mois d'octobre 1520, le détroit qui a gardé son nom, avait été frappé de la quantité de feux que les naturels avaient allumés.

L'aspect des sauvages du Jardin d'acclimatation n'a pas démenti la description que donnait des naturels de la Terre de feu le capitaine américain Wilkes. C'étaient bien ces êtres humains, dont la taille est en générale au-dessous de la moyenne. La peau est

cuivrée, d'une nuance qui se rapproche de la couleur du chocolat. Le visage est court, le front étroit et couvert, les pommettes saillantes. L'œil, étroit et allongé, est noir. La paupière supérieure recouvre en partie l'inférieure dans l'angle interne. Le nez est court et légère-

Les Fuégiens.

ment épaté. Dans la bouche, d'assez grande dimension, on distingue de belles dents blanches et régulières. Les cheveux noirs et lisses sont, par devant, rabattus sur la figure jusqu'à la naissance du nez. Par derrière, ils retombent sur les épaules. Point de différence d'ailleurs entre la chevelure des hommes et celle des femmes. La face, dans son ensemble, est écrasée; la barbe est faible et rare. Le corps est remarquable par

le développement de la poitrine, des épaules et de la colonne vertébrale. Les bras sont longs et hors de proportion; les jambes petites et frêles. Le développement de la force musculaire paraît assez considérable.

Les Fuégiens du Jardin d'acclimatation étaient, avons-nous dit, au nombre de onze : quatre hommes, quatre femmes et trois enfants de deux à quatre ans. Parmi les hommes, deux étaient particulièrement bien conformés, quoique leur ventre fût énorme. Le plus âgé des hommes avait les bras et les jambes décharnés, avec un abdomen extraordinaire.

Quant aux quatre femmes, elles étaient affreuses, sans en excepter la jeune. Toutes étaient sales, avec la face ridée et les chairs flasques. Les enfants, recouverts de peaux de loutre, ressemblaient plutôt à des animaux d'ordre inférieur qu'à des êtres humains.

La saleté des Fuégiens est tout à fait repoussante. Ils ne se débarbouillent jamais, et ne se nettoient point la tête. Malgré cela, leur peau ne s'enduit pas trop de crasse. Cela tient sans doute à ce que la sueur de leur corps les lessive de temps en temps. Leur habillement se compose, chez eux, de peaux de phoque et de loutre.

Dans la saison chaude, ils vont nus.

En hiver, ils ne s'habillent que tout juste pour se mettre à l'abri du froid.

De nombreux voyageurs les ont visités; mais ils les ont presque toujours vus fuir avec terreur devant eux, et ont pu à peine se rendre compte de l'existence qu'ils mènent. Ils ont tous été frappés de leur condition misérable et difficile.

Les renseignements donnés par eux s'accordent à présenter les habitants de la Terre de feu comme

ayant les mœurs des nomades. Ne vivant que de chasse et de pêche, ils errent, en petit nombre, d'un lieu à l'autre, changeant de séjour dès qu'ils croient avoir épuisé les ressources d'une région. Leur situation d'insulaires les a rendus navigateurs. Ils parcourent incessamment toutes les plages de la Terre de feu et des contrées situées à l'ouest du détroit. On les voit réunis par deux ou trois familles, quelquefois moins, se construisant des pirogues d'écorces d'arbres, cousues avec des tendons d'animaux et longues de quatre ou cinq mètres sur un mètre de large. L'intérieur du canot est soutenu par des branches, et le dehors est enduit de résine. Les seuls outils employés pour cette construction sont des coquilles et des fragments de silex. Les habitations sont des cabanes coniques construites en branchages fichés circulairement en terre et réunis à leur sommet. Souvent établies à quelques pieds sous terre, les cabanes sont recouvertes d'argile ou de peaux de loup marin. Au centre, on allume le feu, dont la fumée ne peut sortir que par une seule ouverture basse qui sert de porte.

Lorsque les Fuégiens naviguent, les femmes seules sont chargées de ramer. L'homme, tenant à la main un dard armé d'une pierre aiguisée, se tient prêt à attaquer le poisson. Lorsqu'on aborde, les pirogues sont laissées à la garde des femmes, dont quelques-unes cependant errent sur la côte à la recherche des coquillages. Pendant qu'elles se livrent à cette occupation, l'homme chasse à la fronde ou à l'arc avec des flèches armées d'une pointe de silex.

Le fond de l'alimentation se compose de coquillages crus ou cuits, de poissons, d'oiseaux, de phoques, de

loups marins. La famine pousse parfois les Fuégiens au cannibalisme. Lorsque l'hiver les prive de toute autre ressource, ils tuent et mangent les femmes âgées. Pourquoi tuer celles-ci plutôt que les chiens? demandait-on à un Fuégien, qui répondit simplement : « C'est que les chiens attrapent des loutres, et les vieilles femmes, pas ! » Il ne pouvait pas être question d'expérimenter à cet égard les habitudes des Fuégiens du Jardin d'acclimatation, mais on a pu du moins voir comment ils mangeaient. On leur faisait donner chaque jour et par tête trois livres de viande crue et des moules crues à discrétion. Lorsqu'on déposait sur les caisses qui leur servaient de meubles un quartier de bœuf de bonne qualité, on leur coupait à chacun un morceau, qu'ils plaçaient sous leur aisselle. Le sang de la viande leur coulait sur les reins ; pour l'essuyer, ils se frictionnaient le corps avec les mains, qu'ils essuyaient aux cheveux. Voulaient-ils manger, ils mordaient à pleines dents le morceau entier jusqu'à satiété. Lorsqu'ils étaient repus et qu'il leur restait de la viande, ils jetaient le morceau dans les cendres chaudes, et lorsque la viande était tiède, ils la retiraient, l'essuyaient à leur peau de mouton ou sur leur propre peau, et recommençaient avec la gloutonnerie de la hyène. Leur repas terminé, ils faisaient leur digestion à la façon des serpents et des crocodiles, en dormant au soleil jusqu'à ce que la faim vînt tirailler leur estomac. Ils s'accommodaient très-bien du pain qu'on leur distribuait et le coupaient par tranches avec un couteau ; mais ils ne paraissaient manger du pain que pour s'occuper pendant qu'ils ne dormaient pas. Accroupis autour de bûches enflammées ou couvant le feu, ils restaient des heures entières, calmes, impassibles, sans dire un mot ni pousser le moindre cri.

On n'a pu reconnaître chez les Fuégiens aucune trace d'un sentiment religieux quelconque. Malades, ils ont leurs conjureurs en guise de médecins. C'est ordinairement une femme qui remplit ces fonctions. On ne connaît aux Fuégiens ni gouvernement, ni hiérarchie, ni chef. Les hostilités de voisin à voisin sont fréquentes et ont toujours pour origine quelque empiétement sur l'espace où chacun vient chercher sa nourriture. Du reste, doux et craintifs vis-à-vis des étrangers; seulement, voleurs incorrigibles. De tous les mots de leur idiome, ils n'en emploient aucun aussi fréquemment que celui de *yammerchouner*, « donne-moi ! » La langue des Fuégiens est d'ailleurs peu connue. Le langage semble formé de gloussements et de battements de langue produisant des sons gutturaux.

Diverses tentatives ont été faites sans grand succès pour civiliser les Fuégiens. Vers 1850, le commandant Allan-Gardner et ses compagnons, qui s'étaient voués à cette entreprise, moururent de faim. Une nouvelle expédition eut un sort également funeste. Tous ses membres, à l'exception d'un seul, périrent assassinés. Les tentatives des missionnaires furent suspendues jusqu'en 1868. A cette époque, l'évêque catholique des Falkland établit une mission à Ostrovia. En 1877, cette mission avait réuni cent Fuégiens; parfois le nombre allait jusqu'à 250. On ne possède que des données fort vagues sur le chiffre de la population de la Terre de feu. On l'évalue à cinq ou six mille âmes, mais sans qu'aucun moyen de contrôle ait permis d'apprécier la valeur exacte de cette hypothèse.

---

**Colle céramique Margelidon.** (*Voir aux annonces.*)

# TRIBUNAUX

## LES CONTES DE LA REINE DE NAVARRE DEVANT LES TRIBUNAUX AMÉRICAINS

Un procès qui s'est jugé cette année à Monmouth, province de New-Jersey, a fait ressortir divers côtés curieux des mœurs américaines.

Lorsque Marguerite de Navarre écrivait son *Heptaméron*, elle ne prévoyait guère qu'elle serait mise sur la sellette, trois cent cinquante ans plus tard, par un tribunal des États-Unis.

C'est cependant ce qui vient d'arriver.

Un libraire et son associé ont été jugés pour avoir vendu un livre obscène qui n'était autre que l'*Heptaméron*.

La loi est très-sévère à l'égard de ces délits, qui peuvent entraîner de fortes condamnations. Comme l'action publique est parfois lente, il existe une société qui s'est donné pour mission spéciale de porter plainte contre les délinquants.

L'idée est bonne, sans doute. Malheureusement elle est appliquée par des gens peu lettrés, qui sont incapables de faire la distinction entre des écrivains comme Rabelais, Boccace, Marguerite de Navarre, et les misérables qui exploitent l'obscénité et l'ordure.

De là, la singulière aventure de ces libraires assez osés pour vendre l'*Heptaméron*.

Un agent de la Société contre les livres obscènes se présente pour acheter l'œuvre de la sœur de François I^er^. On la lui vend. Une heure plus tard, un constable arrive, muni d'un double mandat

d'arrestation, en vertu d'une plainte déposée par le maire de la localité, cette plainte étant motivée par « l'exposition et la mise en vente d'un livre obscène ».

L'affaire vient devant le jury d'instruction, qui met en accusation MM. Dayton et Knox, les deux associés. Elle revient ensuite devant la cour criminelle de Monmouth.

L'aspect général de cette cour et du jury est peu littéraire.

Le juge, M. Walling, qui dirige les débats, est un ancien ingénieur civil, devenu magistrat par le choix du suffrage universel. Il n'a jamais entendu parler de l'*Heptaméron*, ni de l'aïeule de Henri IV.

Ses deux assesseurs, l'un un fermier, l'autre un avocat, ignorent également ce que peut bien être ce livre au nom grec.

L'attorney représentant le ministère public, M. Lanning, est logé à la même enseigne.

Quant au jury, il se compose de dix cultivateurs, un boutiquier et un meunier. Ce dernier seul se souvient d'avoir lu, il y a quelque vingt ans, une traduction anglaise de l'*Heptaméron*.

Les accusés sont défendus par deux avocats qui ont apporté pour les utiliser dans le cours de la procédure, une demi-douzaine d'éditions de l'*Heptaméron*, les œuvres de Rabelais, de Boccace, de la Fontaine, de Shakespeare, l'*Histoire de la littérature anglaise* de Taine, etc. C'est toute une bibliothèque qui s'étale sous les yeux des jurés décontenancés.

L'auteur de la plainte, le maire Bradley, est connu dans le pays par son zèle en faveur des Sociétés de tempérance. Il dépose contre les libraires.

Un des défenseurs lui demande s'il a lu le livre incriminé.

— J'en ai lu deux ou trois passages, répond le témoin, et je l'ai jeté loin de moi, tant j'étais honteux.

— Connaissez-vous l'histoire de ce livre?

— Non, monsieur.

— Savez-vous qui était Marguerite de Navarre?

L'attorney poursuivant soumet à la cour un exemplaire de l'*Heptaméron*, où il a marqué, dit-il, « les passages obscènes » sur lesquels les poursuites sont basées.

Baissant alors la voix, l'attorney donne lecture de ces passages.

Le juge. — Parlez à haute voix.

L'avocat de la défense. — Si des fragments du livre doivent être lus aux jurés, nous insisterons pour qu'on leur lise le livre tout entier.

Le juge. — Cela ne servirait pas votre cause, au contraire.

L'attorney s'assoit près des jurés, et, sans élever la voix, il lit divers contes de l'*Heptaméron*, mais en ayant soin d'omettre toute allusion à la moralité que l'auteur en tire.

La défense demande à prouver par experts que l'*Heptaméron* est un document littéraire, un livre inscrit dans les catalogues de toutes les bibliothèques publiques et vendu par tous les libraires.

M. Allison, libraire-éditeur à New-York, est appelé comme expert par la défense. Il commence par dire qu'il est membre pratiquant de l'Église presbytérienne.

Le juge constate que c'est seulement cette qualité de membre pratiquant d'une Église qui peut donner

quelque valeur à la déposition du témoin. Ses connaissances en matière de livres n'ont rien à voir dans la question. C'est le jury seul qui doit apprécier si le livre incriminé est ou non un livre obscène.

La défense proteste. Elle dit qu'en se basant sur cette façon d'interpréter la loi, « un jury d'athées pourrait déclarer que la Bible est un livre obscène ».

Le juge. — Je ne crois pas que vous puissiez trouver un jury d'athées à Monmouth.

La défense offre de prouver que des livres analogues à l'*Heptaméron* sont lus et admirés, au point de vue artistique, par le public lettré. Il veut lire des passages des *Sonnets* de Shakespeare, du *Décaméron*, des *Contes* de la Fontaine et des auteurs anglais du seizième et du dix-septième siècle.

La cour refuse d'autoriser cette lecture. Elle rejette aussi des catalogues de bibliothèques tendant à montrer que l'*Heptaméron* n'est pas classé parmi les ouvrages dangereux pour les mœurs.

Le défenseur, dans un long plaidoyer, fait l'historique de l'époque où vivait Marguerite de Navarre, afin d'établir que l'*Heptaméron* était en rapport avec les mœurs de cette époque. Il précise la place qu'occupe ce livre parmi les documents littéraires du seizième siècle.

« Il n'appartient pas, dit le défenseur au tribunal de Monmouth, au jury de Monmouth de se poser en censeur littéraire et de dire qu'un livre qui a vécu trois cent cinquante ans est un livre obscène parce qu'il contient des passages lestes. »

Dans son résumé, le juge Walling décide qu'il est nécessaire d'examiner premièrement si le livre vendu était obscène, et deuxièmement s'il a été vendu sans

cause justifiable. Sur le premier point, il ne saurait y avoir de doutes. L'*Heptaméron* est bien un livre obscène. Sur le second point, la Cour refuse d'exprimer aucune opinion, le jury décidera. Toutefois, il importe peu qu'une histoire indécente soit suivie d'une moralité. Il suffit, pour qu'un livre soit obscène aux yeux de la loi, que quelques-unes de ses parties soient indécentes.

Les jurés devront exercer leur intelligence et se prononcer eux-mêmes sur le fait, sans égard aux dires des experts. S'ils jugent que le livre est obscène, ils auront à dire s'il est nécessaire pour le bien public, pour le bien de la religion ou de la science, que la vente du livre soit permise, ou si cette vente doit être punie et les libraires condamnés.

Après ce résumé, les jurés se retirent dans la salle de délibération, les bras chargés d'exemplaires de l'*Heptaméron*.

Il faut croire que l'œuvre de la Marguerite des Marguerites leur a inspiré des idées peu sévères, car ils reviennent une heure plus tard avec un verdict d'acquittement, que saluent les applaudissements de l'auditoire.

Aujourd'hui, tout le monde veut lire l'*Heptaméron* à Monmouth et aux environs.

---

## EN RETARD SUR SON SIÈCLE

Plâtreux, un bon diable, maçon de son état, buveur à ses moments perdus, et ces moments-là sont nombreux, comparaît devant le tribunal de police correctionnelle. Nous laissons à la *Gazette des tribunaux* le soin de raconter son histoire.

Il est entré chez un pharmacien (et vous allez voir que ceci nous reporte au temps de Molière); là, on lui demande ce qu'il désire. Or, ce qu'il désirait était bien autrefois de la compétence de M. Diafoirus, mais a, depuis très-longtemps, cessé d'être administré par ses successeurs. Vous voyez d'ici l'accueil fait à ce client d'un autre âge par l'élève pharmacien, blessé de ce qu'il croyait être une mystification voulue, alors que la demande était faite avec une entière bonne foi, au dire du moins de Plâtreux.

*M. le président :* Vous avez donné un soufflet à un pharmacien dans l'officine duquel vous êtes entré. Vous aviez commencé par une plaisanterie de mauvais goût?

*Le prévenu :* Mon président, pour ce qui est du goût, croyez bien que ça n'était pas le mien; étant depuis longtemps très-patraque, que l'estomac n'allait plus du tout, et des coliques!... enfin, qu'on me dit : Va donc à la consultation. Donc, pour lors je vas à la consultation. Le médecin me dit : Qu'est-ce que vous avez? — Je lui réponds : Je ne sais pas. — Moi non plus, qu'il me dit. Alors je lui conte comme quoi l'appétit n'allait pas du tout et des coliques qui me coupaient la gueule à vingt pas.

*M. le président :* Tâchez de vous exprimer plus convenablement.

*Le prévenu* : Enfin des coliques qui me tortillaient. « C'est bon, il me dit. C'est de l'échauffement; vous faut des bains et des lavements, et ça se passera. » C'est bon, je m'en vas, me disant : Des bains, c'est peut-être cher, vu que j'en ignorais le prix. Je parle de ça à ma sœur qui est domestique dans une bonne maison; alors elle me dit : « Il y a monsieur qui prend un bain

tous les jours à dix heures; viens à onze heures quand il a fini, tu te mettras dedans après lui... »

*M. le président :* Voyons, arrivez donc au fait.

*Le prévenu :* Bon! ayant mon affaire pour le bain, je vais donc pour l'autre chose chez le pharmacien.

*M. le président :* Vous étiez ivre?...

*Le prévenu :* Oh! bien peu, mon président; je lui expose mon cas... je vous assure que j'y allais bon jeu bon argent, ayant toujours cru qu'on tenait ça chez les apothicaires, et que j'ai demandé ça très-poliment... en gazant. Alors le jeune monsieur qui avait un tablier me traite de goujat, de pochard, et me prend par le bras pour me flanquer à la porte. Je lui disais : Je ne vous ai pas fait de sottises... j'ai gazé... pourquoi que vous me flanquez à la porte? C'est donc en voyant qu'il ne m'écoutait pas et me bousculait comme si j'étais un homme ivre, que je lui ai posé une simple gifle.

*M. le président :* Votre gifle était un coup de poing dans la figure.

Un témoin entendu affirme que le prévenu n'avait l'air ni goguenard, ni provocateur.

*Le prévenu :* Je vous disais bien, mon président, bon jeu, bon argent, je croyais que ça se faisait, foi d'homme; pensez; je suis veuf, j'ai pas chez moi ce qu'il faut... vous savez, un...

*M. le président :* C'est bon... pas de détails.

Si Plâtreux a été de bonne foi en s'adressant au pharmacien, le coup de poing donné a été de bonne marque aussi. D'où 50 francs d'amende. Voilà le cachet que payera Plâtreux au tribunal, qui lui apprend obligatoirement, laïquement et coûteusement, que l'usage de faire donner des lavements aux personnes a disparu depuis Molière.

## UN FAUX SERPENT DE MER

Encore une légende qui s'en va.

On sait que, de temps en temps, les journaux, surtout les journaux politiques, nous racontent que des marins ont aperçu le fantastique monstre marin auquel, faute de mieux, on a donné le nom de serpent de mer.

Or, à propos des indices que peuvent fournir les herbes marines gigantesques, sur la proximité des côtes, le *Madras-Mail* du 8 septembre 1881 reproduit une intéressante nouvelle racontée par le capitaine Taylor, et qui porte une rude atteinte à la légende des *serpents de mer*.

« Mon navire étant un jour à l'ancre à *Table-Bay*, on crut voir soudain un monstre énorme qui paraissait s'avancer en roulant sur lui-même à fleur d'eau, vers *Green-Point*, à l'intérieur de la baie. Cet objet semblait long de plus de cent pieds (30 mètres) et s'agitait avec un mouvement ondulatoire semblable à celui d'un serpent. Sa tête paraissait surmontée de quelque chose comme une longue chevelure, et ceux des observateurs dont la vue était la plus perçante, affirmaient avec épouvante qu'ils distinguaient ses traits et jusqu'à ses yeux.

« On appela alors la troupe et on dirigea, pendant un certain temps, sur le monstre, un feu nourri de mousqueterie, à une distance d'environ 500 mètres. Lorsqu'on vit qu'il avait été sérieusement atteint, et que ses mouvements désordonnés s'étaient à peu près apaisés, on s'en approcha avec des canots pour l'examiner de plus près et achever sa destruction.

« On s'aperçut alors qu'on avait eu affaire à un magnifique échantillon de l'*herbe géante de mer* dont les

ondulations étaient causées par l'agitation des vagues à la proximité des côtes, mais qui s'était mise au repos en pénétrant dans les eaux tranquilles de la baie. »

Voilà, dit M. Vallette, le collaborateur de M. l'abbé Moigno pour la rédaction du journal *les Mondes*, un récit qui doit engager la critique à examiner avec attention les récits plus ou moins authentiques et fantastiques qu'on trouve parfois dans les journaux sur les monstres marins appelés serpents de mer.

---

## LES APPOINTEMENTS DES ANCIENS COMÉDIENS

On sait à peu près quels sont les prix que demandent aujourd'hui les comédiens et les chanteurs de théâtre, prix qui vont facilement au delà de 100,000 francs pour les premiers sujets du chant et quelques artistes en voyage.

Dans l'antiquité, le comédien Paulus, à Athènes, gagnait un demi-talent par jour (2,700 francs); à Rome, le fameux Roscius recevait du trésor public 300,000 livres par an, et Dyonisia, 50,000 écus. L'acteur Æsopus laissa à son fils 20 millions de sesterces (près de 5 millions de francs).

Les comédiens français d'autrefois ne faisaient pas si vite fortune. Voici quels furent, année par année, d'après le registre de Lagrange, les profits de Molière comme comédien. Du 3 novembre 1658 à Pâques 1659, sa part dans les recettes est de 1,540 livres; en 1659-1660, il reçoit 2,995 livres; en 1660-1661, 2,478. En 1661, il demande deux parts au lieu d'une. On les lui accorde « pour lui et sa femme, s'il se marie ».

Marié le 20 février 1662, il eut ainsi double part jusqu'à sa mort, c'est-à-dire 6,235 livres en 1662-1663 , 9,068 livres en 1663-1664, 4,486 livres en 1665-1666, 6,704 livres en 1666-1667, 5,217 livres en 1667-1668, 10,954 livres en 1668-1669, 8,069 livres en 1669-1670, 9,278 livres en 1670-1671, 8,466 livres en 1671-1672, et 9,171 livres en 1672-1673. Lagrange lui-même, du 25 avril 1659 au 17 février 1673, avait encaissé 51,670 livres 14 sous, capital respectable ponr l'epoque. Mais ce sont là des dividendes plutôt que de véritables salaires; et sans le génie de Molière, sans sa fécondité, sans son infatigable labeur, la troupe n'aurait pas fait de si bonnes affaires. Au siècle suivant, Lekain, le grand tragique, ne recevait de la Comédie française que 2,000 livres, s'il faut en croire une lettre de Voltaire du 2 avril 1755.

Ce que Lekain aurait gagné cent ans plus tard, on peut le conjecturer par ce qu'exigeait Mlle Rachel. Engagée au Théâtre-Français à raison de 4,000 fr. par an, en 1838, elle stipulait, dès 1840, un *ultimatum* de 27,000 fr. de fixe, 64 feux de 281 fr. 25 c. chacun, ensemble 18,000 fr., une représentation à bénéfice, estimée 15,000 fr., plus trois mois de congé, qui n'étaient pas la partie la moins fructueuse de l'année. Plus tard, le taux de ses exigences s'éleva bien autrement encore. Cependant aujourd'hui, elles paraîtraient modestes.

Le contraste est plus frappant encore entre les anciens prix et les prix actuels dans les théâtres de musique et de danse. Mlle Guimard, en 1762, était engagée comme premier sujet du corps de ballet, à l'Académie royale de musique, moyennant 600 livres

LEKAIN.

par an ! A quelques années de là, l'impératrice Catherine II s'étonnait de voir la Gabrielli demander 5,000 ducats.

— Mais je ne paye sur ce pied-là aucun de mes feld-maréchaux ! objecta Catherine.

— Eh bien, répliquait l'autre, que Votre Majesté fasse chanter ses feld-maréchaux.

En 1789, Mmes Lays, Lainé et Saint-Hubert, premiers sujets de chant à l'Opéra, recevaient de 7,000 à 9,000 livres. En 1820, les mêmes emplois se payaient 15,000 francs. De nos jours, le chiffre de 100,000 francs a été plus d'une fois dépassé.

---

## LA BONNE FOI ARABE

Le docteur Payn a publié dans le *Journal de médecine de l'Algérie* un curieux récit que nous reproduisons en l'abrégeant un peu.

C'était en 1847. Nommé médecin de colonisation, j'avais à peu près (dit le narrateur) une tournée de 50 kilomètres par jour et à cheval ; car à cette époque les abords des villages en création n'étaient pas carrossables.

Un soir, je rentrais, courbé sur ma selle, éreinté comme mon cheval et tous deux aspirant au repos. Tout à coup, un grand bruit de cheval galopant derrière moi me tire de ma torpeur. Un noble musulman, assez bien vêtu, me rejoignit en criant horriblement.

— Qu'y a-t-il? dis-je en m'écartant.

— Toi *tébib* (médecin) de Birkadem?

— Oui, c'est moi.

— Toi venir à Baba-Ali avec moi. Ma mère très-

malade; mal à la jambe, et toi venir lui couper la jambe. Tu as tes couteaux? Venir avec moi tout de suite.

Me voilà donc avec la perspective d'une amputation, à neuf heures du soir, seul, dans le fond de la plaine. Je ne riais guère, et je repassais dans ma tête mon anatomie et les amputations auxquelles j'avais assisté.

Vers les dix heures, nous étions à Baba-Ali, habitation ressemblant à un blockhaus; moutons et brebis dans l'enceinte, fumier jusqu'aux genoux; au milieu, gourbi éclairé par une lampe arabe, trois femmes rangées autour d'un matelas, et sur ce matelas la malade, grosse femme de quarante-cinq ans environ, « sale, puante et mourante ».

Le cas était une fracture de la cuisse, datant de six semaines, et compliquée de vilaines plaies où grouillaient des vers.

Mon embarras fut grand. Je proposai de faire évacuer la malade sur l'hôpital, ou du moins de surseoir à l'opération. Mais le fils de la pauvre malade ne voulait rien entendre.

— Coupe, coupe, répétait-il sans cesse.

J'avais étalé ma trousse, et ce fils forcené faisait mine de se mettre à opérer lui-même.

Pour gagner du temps, je parlai d'honoraires.

— Combien?

— Quarante douros.

— Non; quarante moutons.

— Quarante moutons, soit.

J'étais mis au pied du mur.

Frémissant à ce que j'allais faire, littéralement baigné de sueur, je mets habit bas, je retrousse mes manches; on déchire une vieille chemise, on me

donne des cordes de chameau; on chauffe à blanc une vieille pelle; on apporte de l'eau froide, de la terre, une terrine; et me voilà prêt à opérer sous la clarté sépulcrale d'une lampe fumante.

Je fis une coupe circulaire de toute la cuisse, m'arrêtant pour cautériser avec ma pelle. Je vis l'artère crurale se tordre et se rétracter sous mon fer rouge; les chairs fumantes crépitaient, saignaient, brûlaient sous ma main. Les quatre enfants et les assistants poussaient des hurlements. Moi, j'étais blême et inondé d'une sueur froide.

Enfin, après une heure de ce supplice, j'emmaillottai la cuisse avec mes chiffons, et je serrai fortement les cordes de chameau en les roulant jusqu'en haut.

Après cette besogne, je tombai sur une natte plus mort que vif, et je m'assoupis. A mon réveil, je jetai les yeux sur ma victime. Elle ne souffrait pas et paraissait résignée. Je bus du café, je lui en fis boire aussi, et je promis de revenir le lendemain. Puis je montai à cheval pour retourner chez moi laver le sang dont j'étais couvert, manger et dormir.

Le lendemain matin, de bonne heure, je vis, en ouvrant ma fenêtre, mon mahométan de la veille qui venait me dire que, après mon départ, le réchaud servant à chauffer ma pelle à blanc avait communiqué le feu au gourbi et brûlé tout ce qu'il contenait.

— Eh bien, et la mère?

— Brûlée aussi, avec le lit.

Et, ce disant, il était fort calme. Je repris :

— Et mes quarante moutons?

— Brûlés aussi.

Je n'en crus pas un mot, mais je ne réclamai pas, jurant, mais un peu tard, qu'on ne m'y prendrait plus.

Ce récit édifiant et instructif pourra consoler les médecins européens qui voient souvent, eux aussi, leurs honoraires s'évanouir en fumée.

---

## UN VOYAGE DE NOCES

Il y avait à Dresde un congrès d'instituteurs de la Saxe. La veille, quelques-uns d'entre eux attendent à la gare pour recevoir plusieurs de leurs collègues du cercle de Chemnitz; parmi eux se trouvait un brave maître d'école d'un petit bourg de l'Erzgebirg.

« Tiens, te voilà! lui dit le directeur de l'école de Sebnitz; il y a bien des années que je ne t'ai vu. Es-tu content de ta position? » — « Mais oui, assez, répondit l'autre, cela boulotte. Je me suis marié avant-hier, et je fais mon voyage de noces. »

— Très-bien! reprit l'ami, tu vas me présenter à ta femme; elle est donc restée dans le wagon?

— Mais pas du tout, dit notre homme; elle est chez nous à la maison. Pense donc, une excursion à deux, cela coûte trop cher par le temps qui court, Cependant, pour le monde qui aime tant à gloser, il fallait s'exécuter et faire le voyage de noces. Alors ma femme, qui est la bonté même, m'a dit : « Ecoute, Fritz, pars et fais seul ton voyage de noces. » Et voilà, mon bon Karl, pourquoi tu me vois aujourd'hui dans la capitale.

---

**HERNIES** complétement guéries par le célèbre curateur herniaire **M. B. GLASER,** qui a obtenu plusieurs récompenses pour ses cures merveilleuses (médailles et décorations).

*(Voir pour plus de détails en tête de la dernière page des annonces.)*

# HISTOIRE DES HUISSIERS

L'histoire des officiers ministériels appelés huissiers explique pourquoi ces honorables personnages, presque des gros bourgeois dans certaines localités, sont toujours et même sont encore victimes de vieux préjugés. Ils occupent le dernier rang de l'ordre judiciaire et ont pour mission de faire exécuter les arrêts de la justice, surtout de la justice commerciale. Dans les petites communes, ils sont commissaires-priseurs et, à ce titre, vendent les meubles des pauvres gens qui ne peuvent ou payer leurs impôts ou acquitter leurs loyers. C'est à ces derniers devoirs de profession que les huissiers doivent cette espèce d'hostilité à laquelle ils sont en butte, sinon ostensiblement, du moins d'une manière latente.

Le mot huissier, qui signifie littéralement portier ou gardien d'un *huis*, s'applique encore, dans ce sens, aux gens de service qui, dans l'antichambre des ministres ou autres grands personnages, introduisent les visiteurs, ainsi qu'aux fonctionnaires chargés de certains services d'audience dans les tribunaux, les assemblées politiques et les académies.

Les officiers ministériels, chargés des significations nécessaires tant à l'instruction des procès qu'à l'exécution des jugements, ne prirent qu'au dix-septième siècle le titre d'huissiers. Ils s'appelaient autrefois *sergents*, du latin *serviens*, et non des deux mots français *serre-gens*, comme l'ont avancé quelques étymologistes facétieux.

Cette institution, sans laquelle il n'y aurait pas de justice possible, se retrouve chez tous les peuples de l'antiquité. Chez les Hébreux, les *sophetim* ou juges

des villes avaient sous eux des officiers chargés d'exécuter leurs ordres. On les nommait *soterim*. « Placés auprès du tribunal, dit Pastoret, ils tenaient dans leurs mains le fouet ou le bâton pour en frapper les criminels, quand la condamnation était prononcée. » A Rome, les huissiers se nommaient *apparitores*, *viatores*, *stat'ores*, etc. C'étaient en général des affranchis.

Les lettres de Charles VI du 31 janvier 1402, réglant les conditions de la nomination des sergents, sont le premier document authentique que nous trouvions sur cette matière. Ces conditions étaient faciles à remplir; car, en 1484, quatre-vingt-deux ans plus tard, les États généraux, dans leurs cahiers, exprimaient le vœu qu'on ne pût être reçu huissier sans savoir lire et écrire, et « mettre en termes honnêtes les citations des exploits ».

Cette profession, du reste, n'avait rien d'enviable à cette époque : « on y étoit moult de fois injurié et villené », et l'on y courait souvent risque de la vie. En 1325, un gentilhomme du Languedoc, nommé Jourdain de Lille, tua un sergent avec la masse en argent aux armes du roi qu'il lui arracha des mains. On pourrait citer beaucoup d'autres exemples de ces violences, que les ordonnances royales les plus sévères, les arrêts les plus rigoureux ne purent réprimer.

Les huissiers, en effet, dans cette lutte que soutenait alors la royauté contre l'aristocratie, formaient pour ainsi dire la milice du roi. Les gentilshommes, qui n'oubliaient pas que leurs ancêtres avaient été de petits souverains dans leurs seigneuries, résistaient toujours, derrière leurs tourelles, à la juridiction royale. Aussi, voyant l'inanité des ordonnances sévères

prises à cet égard, Henri III tourna-t-il la position de l'ennemi en décidant, par l'arrêt de Melun (1580), que toutes personnes qui avaient seigneuries ou maisons fortes seraient tenues d'élire domicile en la ville royale la plus voisine; faute de ce faire, les significations seraient valablement faites à l'un de leurs officiers, baillis, prévôts, serviteurs, domestiques, etc.

Ce ne fut que sous Richelieu, après le triomphe définitif du pouvoir central, que le sort des huissiers s'améliora d'une manière sensible. Cette classe était auparavant si malheureuse et si méprisée qu'elle ne pouvait se recruter que parmi les individus incapables de gagner autrement leur vie.

Mais encore était-elle bien rémunérée? Une ordonnance du 23 mars 1302 édicte : « Que les sergents à cheval ne prendront que trois sous par jour, et les sergents à pied dix-huit deniers de monnaie courante, quand ils sortiront des villes, quelques ajournements qu'ils fassent pour différentes personnes et pour des procès différents. »

Les huissiers, comme on le voit, se divisaient en sergents à cheval et en sergents à pied. Les premiers, revêtus du droit d'instrumenter dans tout le royaume, avaient ainsi le pas sur leurs confrères. « Mon père était huissier à cheval, dit un des personnages du *Joueur*, de Regnard; c'est presque chevalier. »

Les huissiers à pied ou *à verge*, comme on disait alors, devaient être, comme les autres, reçus au Châtelet; mais ils n'exerçaient que dans les juridictions inférieures et ne pouvaient en sortir.

Il y avait, en outre : les quatre huissiers *fieffés* du Châtelet, les quatre huissiers de la grande chancellerie, les huissiers *à la douzaine* qui composaient

la garde du prévôt, et les huissiers du conseil, ou *à la chaîne*, à cause de la chaîne d'or qu'ils portaient autour du cou.

Le premier huissier au Parlement avait le titre de maître, la qualité d'écuyer et celle de noble qu'il transmettait au premier degré. Son costume était à peu près celui des membres de la cour et se composait d'une robe rouge et d'un bonnet de drap d'or retroussé d'hermine avec une rose de perles.

En 1790, il y avait à Paris 204 huissiers à cheval et 236 à pied. On sait qu'aujourd'hui le tribunal de la Seine n'en compte que 150. Cela tient, d'une part, à la diminution des procès et à la perfection de notre législation, et, d'autre part, à ce que les huissiers actuels ne peuvent instrumenter hors du ressort de leur tribunal.

De nos jours, les huissiers sont plus instruits et moins rudes que leurs devanciers de l'ancien régime; aussi, à mesure que les nécessités de l'ordre social furent mieux comprises, les préventions se sont-elles effacées contre ces officiers publics, qui exercent honorablement d'utiles et indispensables fonctions. De nos jours, l'huissier est un officier ministériel qui vaque à peu près paisiblement à l'exercice de ses fonctions; mais sous la Restauration et le règne de Louis-Philippe, alors que les huissiers poursuivaient les fils de famille, surtout les artistes et les hommes de lettres, ces derniers leur rendirent le métier pénible. On se souvint qu'il n'y eut pas de brocards et de plaisanteries lancés sur leur compte qui ne fussent en quelque sorte approuvés par les rires du public. Alexandre Dumas père et Balzac furent sous ce rapport la terreur des huissiers.

## LA DATE DU 1er JOUR DE L'AN

Bien avant l'édit de Charles IX du 15 août 1563, qui ordonna que l'année commencerait au 1er janvier, quand l'année ne commençait qu'à Pâques, le premier jour de janvier était le véritable jour de l'an. On trouverait d'innombrables preuves de ce fait.

Dans les comptes de l'hôtel du roi Charles VI du 1er octobre 1380, on lit à la date du 1er janvier :

« Raoullet le Guy, pour offrandes faites par le roy à sa grant messe, en la Sainte Chapelle du Palais, le premier jour de l'an. Envoié à lui par le sir Raoullet, mardi premier jour de janvier, le roy au Palais ; argent 4 sous 4 deniers parisis. »

On voit combien s'est perpétué à travers les siècles le cri que poussaient nos aïeux les Gaulois en célébrant la fête du 1er janvier : *Au gui l'an neuf. Au gui l'an neuf!* répètent encore, peut-être avec moins d'enthousiasme, nos contemporains auxquels une civilisation plus raffinée impose, au moment des étrennes, des corvées sans nombre que ne connaissaient point nos ancêtres. On croit que cet usage de faire commencer l'année à la fête de Pâques date du premier âge de l'ère chrétienne, quand on voulut rompre, en quelque sorte, avec les traditions de l'antiquité païenne. Quelques auteurs pensent que c'est Charlemagne qui décréta que le commencement de l'année serait marqué par la fête de Pâques, laquelle arrive aux environs du solstice du printemps. Néanmoins, comme nous l'avons vu plus haut, l'usage ne s'était pas généralisé, et c'est dans le but d'unifier la date du premier jour de l'au que fut rendu l'édit de Charles IX.

# BIBLIOTHÈQUE DE ROMANS A 1 FR. LE VOLUME

E. PLON et Cie, éditeurs, 10, rue Garancière, Paris.

---

Cette collection, commencée il y a deux ans, se recommande par le choix et la variété des ouvrages, tous amusants, tous intéressants.

On y trouve, de Léon Gozlan, ce vif et spirituel humoriste, une *Histoire de cent trente femmes* et *les Martyrs inconnus*, et d'un autre conteur également alerte, Champfleury, *la Succession Le Camus* et *les Amoureux de Sainte-Périne*. Dans un genre plus dramatique ou plus sentimental, trois romans d'Emmanuel Gonzales, *Une princesse russe*, *les Sabotiers de la forêt Noire* et *la Belle Novice*; trois jolis romans d'Élie Berthet, *le Pacte de famine*, *les Drames du cloître* et *Tête-à-l'Envers*. Ensuite, les œuvres charmantes et originales de Charles Deslys, *le Mesnil-aux-Bois*, *la Majorité de Mlle Bridot* et *Zingara*; d'Ernest Daudet, *Dolorès*, *la Tour des Maures* et *Madame Sylvani*; de A. de Lavergne, *le Lieutenant Robert*, *Épouse ou Mère* et *le Cadet de famille*; un très-émouvant récit, *le Bonhomme Misère*, d'Armand Lapointe, et deux études pleines de délicates observations, *les Fonds perdus* et *la Fin du marquisat d'Aurel*, de Henry de la Madelène.

Vient enfin la série de ces livres d'imagination, étranges, pittoresques, imprévus, saisissants : *le Grillon du Moulin* et *le Chambrion*, de Ponson du Terrail; *le Courrier de Lyon*, de P. Zaccone; *Une dette d'honneur*, de P. Saunière; *le Tambour de Montmirail* et *les Nuits de Constantinople*, de F. du Boisgobey; *la Bande Graaft*, de Constant Guéroult; *le Combat de l'honneur*, d'Adrien Robert; *les Fraudeurs*, d'Hippolyte Audeval, et *les Mémoires d'un chiffonnier*, par Mlle d'Aghonne

Cette rapide nomenclature peut donner une idée de la variété de la collection, qui s'augmente de jour en jour.

Afin de mettre cette Bibliothèque de choix à la portée de tout le monde, les éditeurs l'ont établie au prix de :

**1 fr. le volume.**

On peut trouver ces divers ouvrages chez tous les libraires et chez tous les colporteurs, ou les recevoir *franco* en envoyant 1 fr. 25 par volume à la librairie E. Plon et Cie.

# TABLE DES MATIÈRES


| | Pages |
|---|---|
| CALENDRIER.....2 à | 13 |
| L'ANNÉE 1883. — Comput ecclésiastique. — Fêtes mobiles. — Quatre-Temps — Commencement des saisons. — Eclipses de 1883. — Signes du Zodiaque — Planètes. — Tableau des grandes marées..... | 14 |
| CALENDRIER DU JARDINIER..... | 20 |
| ASTRONOMIE ET MÉTÉOROLOGIE..... | 24 |
| L'inspiration..... | 51 |
| PRÉDICTIONS POUR 1883..... | 53 |
| Un enragé parieur..... | 65 |
| CONGRÈS DU PALAIS DU TROCADÉRO A PARIS..... | 67 |
| PETITE REVUE INDUSTRIELLE ET SCIENTIFIQUE..... | 68 |
| Derniers moments d'un pendu..... | 76 |
| Le fat puni..... | 78 |
| La Cigale, le Hanneton et l'Escarbot..... | 79 |
| Weber et le critique..... | 81 |
| HYGIÈNE ET MÉDECINE..... | 84 |
| Les explorations de M. Savorgnan de Brazza..... | 93 |
| Une visite académique..... | 101 |
| Adam..... | 102 |
| M. Dagnel recevra..... | 105 |
| Emplâtre contre les cors aux pieds..... | 108 |
| MÉDECINE..... | 109 |
| MAGIE ET DIVINATION..... | 110 |
| AUX ASTHMATIQUES..... | 116 |
| Les caves de la Banque de France..... | 117 |
| Les bonbons Fivaller..... | 120 |
| Un bien gros garçon..... | 121 |
| Une légende de Charlemagne..... | 122 |
| La coquillière et l'huîtrière..... | 123 |
| LE CRÉDIT FONCIER DE FRANCE..... | 127 |
| Variétés..... | 129 |
| AGRICULTURE ET HORTICULTURE..... | 134 |
| EXPOSITION DE BELGIQUE..... | 140 |
| LES NOUVEAUX FUSILS DE CHASSE..... | 141 |
| Les animaux criminels..... | 142 |
| Jugement au Mexique..... | 145 |
| Un ballon en mer..... | 146 |
| Les Fuégiens..... | 151 |
| TRIBUNAUX..... | 157 |
| Un faux serpent de mer..... | 164 |
| Les appointements des anciens comédiens..... | 165 |
| La bonne foi arabe..... | 168 |
| Un voyage de noces..... | 171 |
| Histoire des huissiers..... | 172 |
| La date du premier jour de l'an..... | 176 |
| BIBLIOTHÈQUE DE ROMANS A 1 FR. LE VOLUME..... | 177 |


IMPRIMÉS

# SOCIÉTÉ FRANÇAISE DE MATÉRIEL AGRICOLE

ANONYME CAPITAL 2.500.000 FRANCS

Anciens Ateliers C. GÉRARD ✻ fondés en 1847, et DEL (Ferd.) fondés en 1860 à Vierzon (Cher)

Siége social, 5, rue de Dunkerque, Paris

ATELIERS DE CONSTRUCTION ET DIRECTION A VIERZON (CHER)

**SPÉCIALITÉ de MACHINES à VAPEUR** fixes, 1/2 fixes et locomobiles; et de **MACHINES à BATTRE** pour grande, moyenne et petite culture

**Ateliers et service spécial pour les réparations et pièces de rechange**

—

**3 Grands Prix et Diplômes d'honneur**

—

—

**269 Médailles d'or. 133 Médailles d'argent.**

—

**Adresser la Correspondance au Directeur de la Société à Vierzon (Cher).**

Vente à longs termes

Crédit à l'agriculture

Envoi *franco* sur demande du Catalogue illustré.

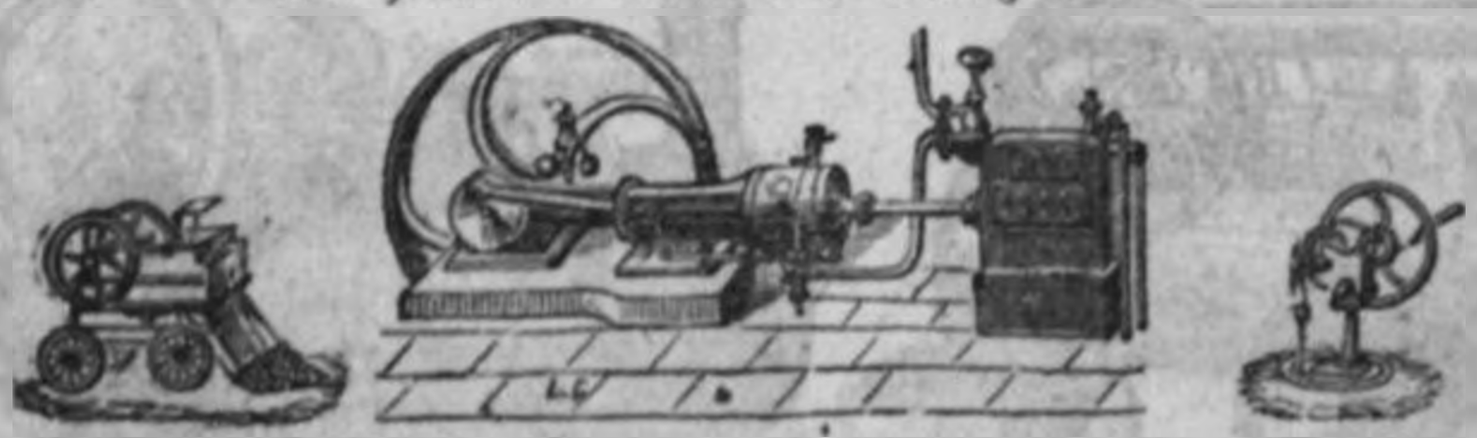

**Casse-pierres**, silex, quartz, minerais, etc. **Pompes centrifuges perfectionnées** pour épuisements, irrigations. **Noirats, Pompes à chapelets**, etc. **Matériel** pour submersion des vignes phylloxérées. Scieries, Moulins, Installations diverses. **Moissonneuses, Faucheuses, Hache-paille, Charrues, Herses. Coupe-racines. Concasseurs**, etc. **Manéges.** Fournisseurs des Domaines de l'Etat. Dépôt à PARIS, 5, rue de Dunkerque; à CREIL (Oise), et dans les principales villes de France.

EXPORTATION

# SPÉCIALITÉ DE MACHINES A VAPEUR

## DEMI-FIXES ET LOCOMOBILES

HORIZONTALES ET VERTICALES de 1 à 50 Chevaux

**MACHINE VERTICALE**
de 1 à 20 chevaux

**QUATRE**
DIPLOMES
**D'HONNEUR**
DE
1872
A
1876

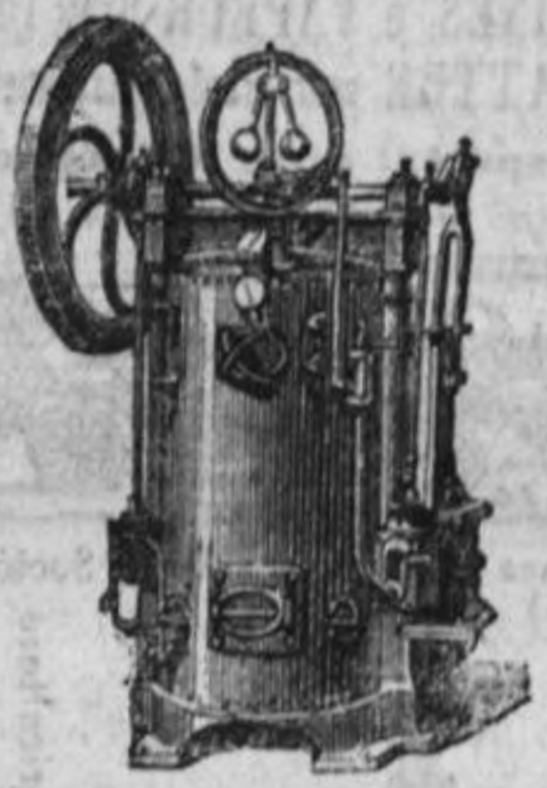

EXPOSITION
**UNIVERSELLE**
1878
Médaille d'Or
CLASSE 52
Argent
CLASSE 54

**MACHINE HORIZONTALE**
Locomobile ou sur patins
Chaudière à flamme directe
de 3 à 50 chevaux.

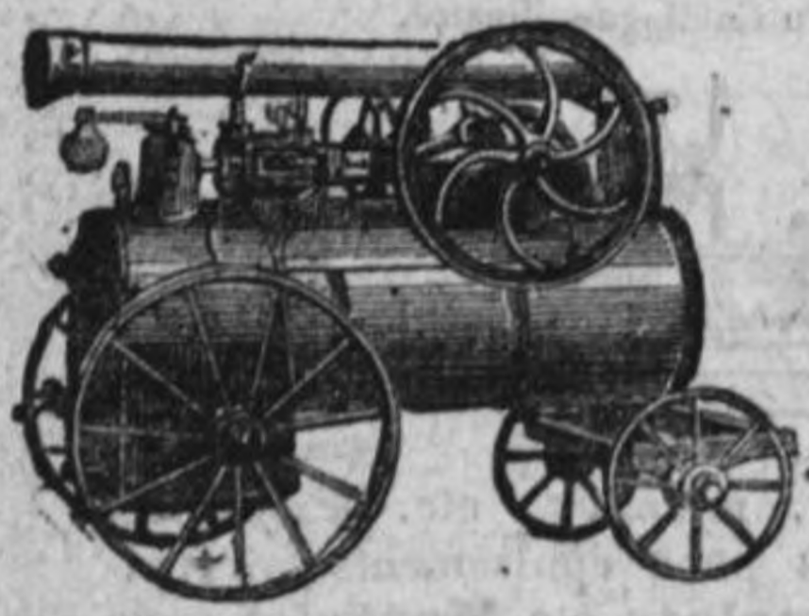

**MACHINE HORIZONTALE**
Locomobile ou sur patins
Chaudière à retour de flamme
de 6 à 50 chevaux

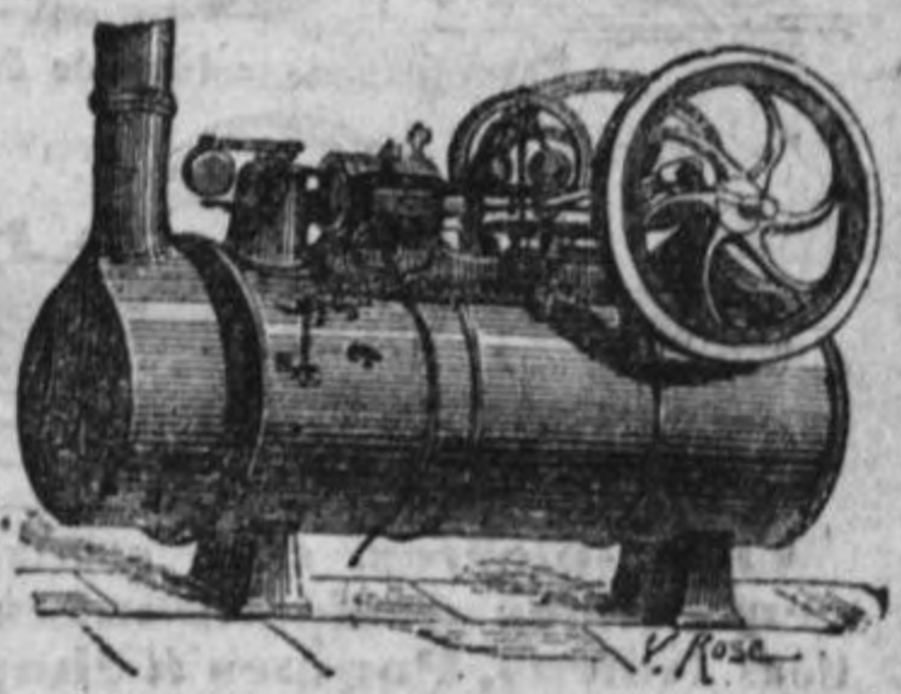

Toutes ces Machines sont prêtes à livrer. — Envoi *franco* des prospectus.

# MAISON J. HERMANN-LACHAPELLE

J. BOULET & C^ie^, Successeurs

Constructeurs-Mécaniciens, 144, Faubourg Poissonnière, Paris.

---

*A partir du* 1^er^ *novembre* 1882, *les bureaux et ateliers seront transférés*
31-33, *rue Boinod; boulevard Ornano*, 106.

# MAISON J. HERMANN-LACHAPELLE

**J. BOULET & Cie, Successeurs. — Ingénieurs-Constructeurs**

**144, rue du Faubourg-Poissonnière, PARIS**

*A partir du 1er novembre* 1882, *les bureaux et ateliers seront transférés*
31-33, *rue Boinod; boulevard Ornano*, 106

---

**Nouvelle machine à battre, perfectionnée fournissant les grains propres à être conduits aux marchés.**

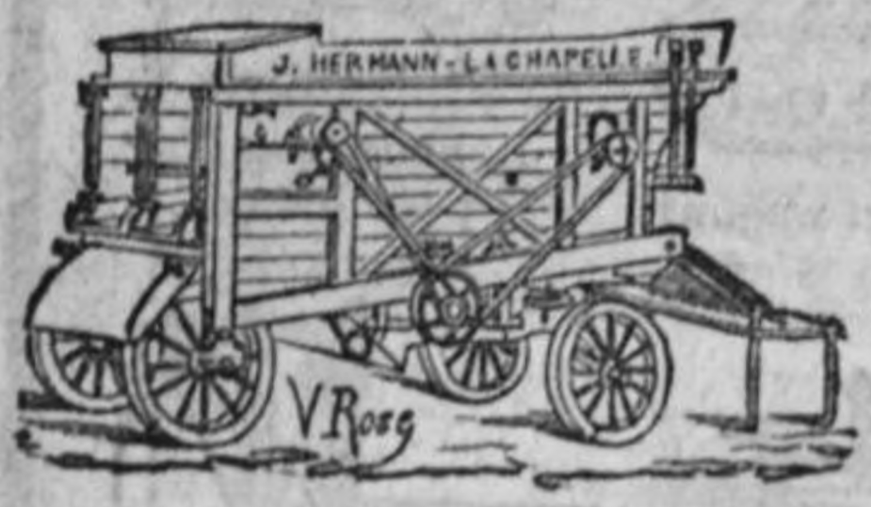


**Petites machines à vapeur spéciales pour batteuses à bras, dites batteuses suisse.**

## MOULINS A FARINE SUR SOCLE BEFFROI EN FONTE

ACTIONNÉS PAR UNE MACHINE A VAPEUR HORIZONTALE

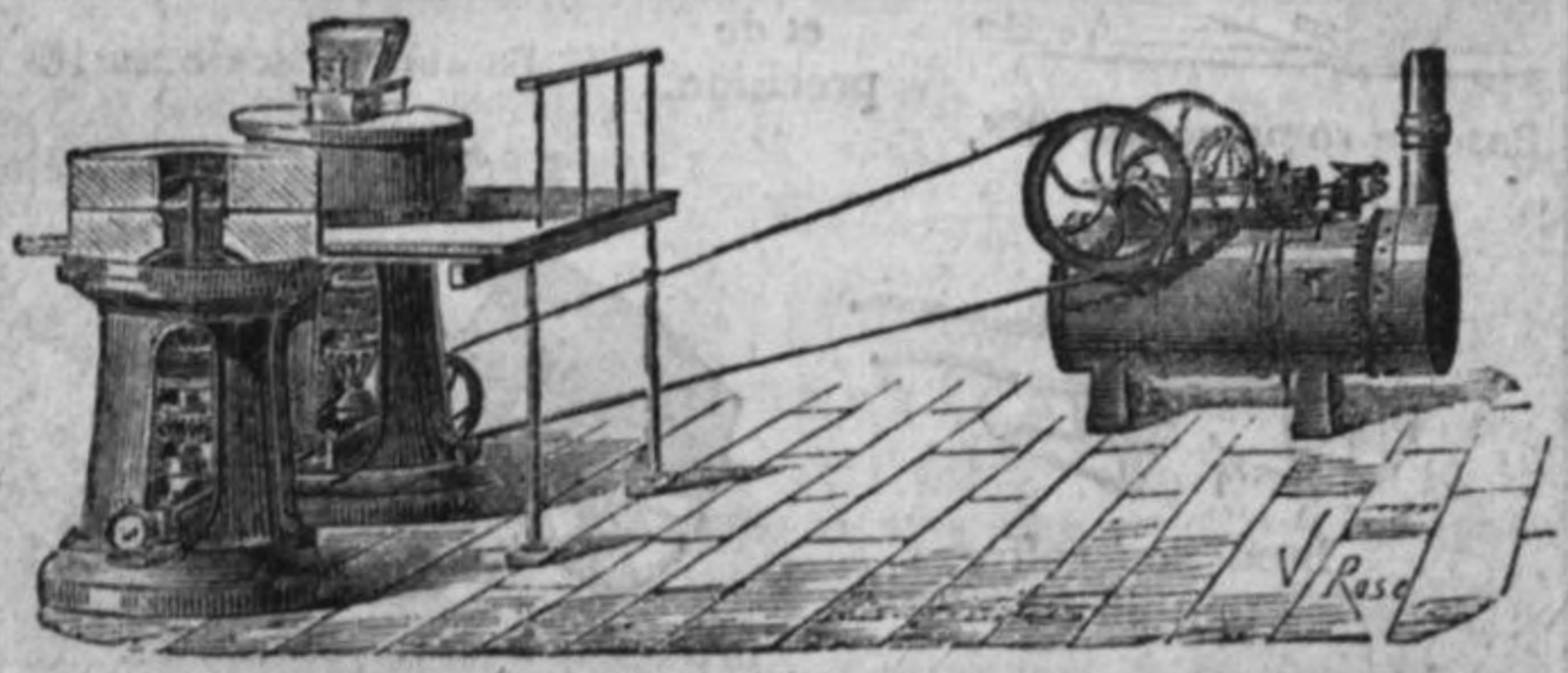

## APPAREILS CONTINUS POUR LA FABRICATION DES BOISSONS GAZEUSES

**Les seuls** qui soient réellement complets et continus

*Envoi franco de tous les prospectus détaillés.*

# L^D PAUPIER *

## CONSTRUCTEUR D'INSTRUMENTS DE PESAGE

ET MATÉRIEL DE CHEMINS DE FER

84, rue Saint-Maur, Paris

**80 médailles — Diplômes d'honneur**

Pont à bascule, pour voitures et wagons.

Romaine en l'air pour grues.

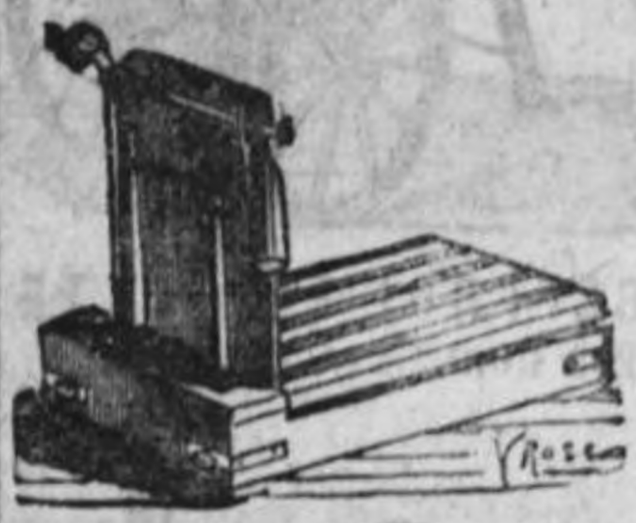

Bascule romaine au 100e, en bois et en fer.

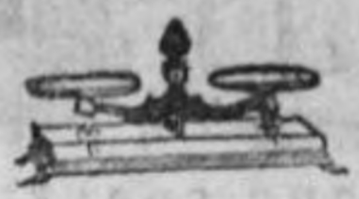

Balances de commerce et de precision.

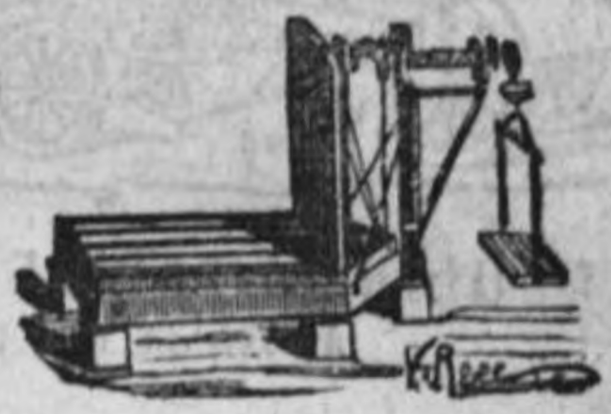

Balance-bascule au 10e tout en fer, à grilles ou à tablier plein

Brouette à coffre, tout en fer

Brouette à bascule, tout en fer.

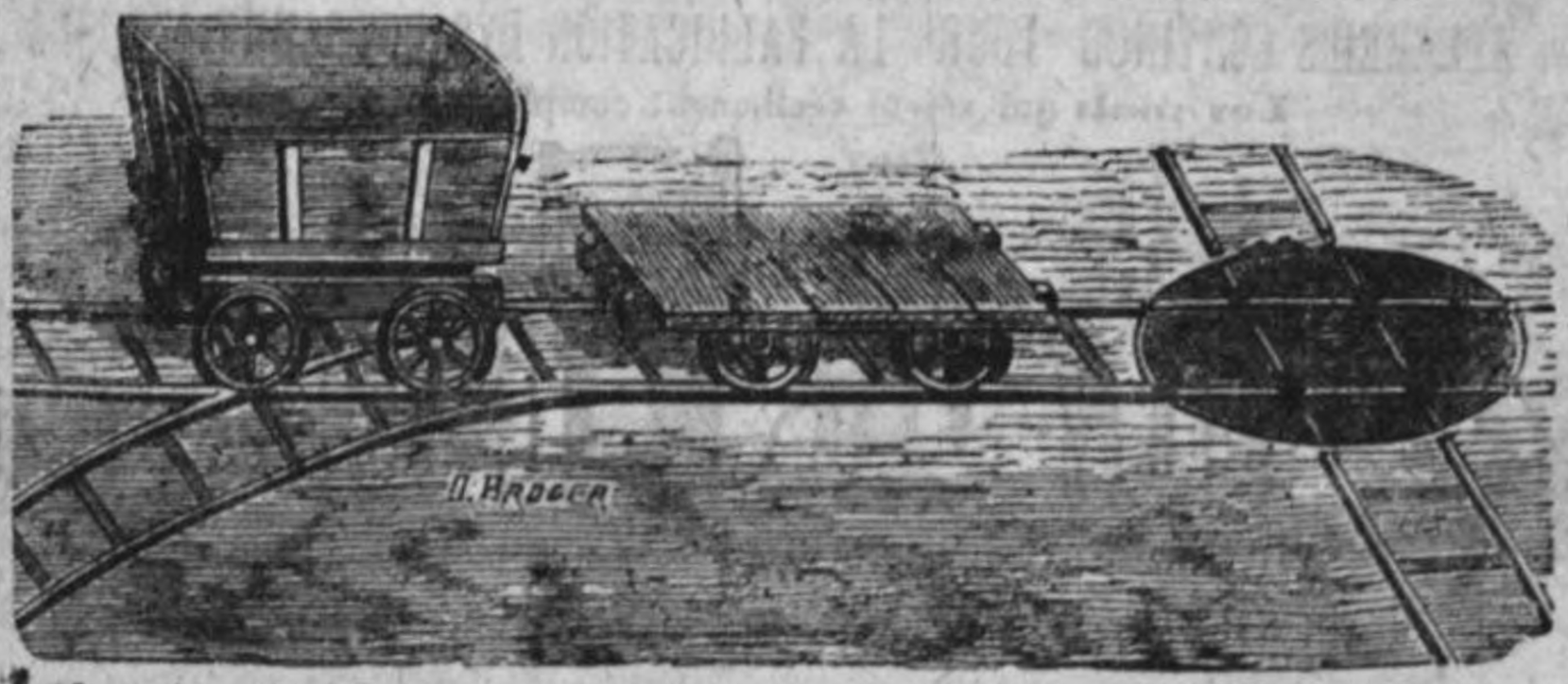


Chemins de fer fixes et portatifs pour l'industrie et l'agriculture

# ORFÈVRERIE AD. BOULENGER

CHEVALIER DE LA LÉGION D'HONNEUR

Fournisseur de la Ville de Paris, de Ministères, de la Cie Transatlantique, du Grand Hôtel, etc.

DIPLOME D'HONNEUR, HORS CONCOURS, MEMBRE DU JURY

Neuf Medailles : Or, Argent, Mérite, Unique, aux Expositions universelles et internationales

**USINE A CRETEIL**
(SEINE)

Marques de fabrique

A BOULENGER

**MANUFACTURE**
6, rue du Vert-Bois, Pa

...nger sur toutes
s pièces le nom
A. BOULENGER

PERSONNE NE FAIT
MIEUX NI A PLUS BAS PRIX
A QUALITÉ ÉGALE

SEULE FABRIQUE DU MÉTAL BLANC COULEUR ARGENT.

*Les couverts argentés à 90 grammes sur ce métal sont supérieurs à to*
*ce qui s'est fait jusqu'à ce jour comme blancheur, résistance et durée*

SERVICES DE TABLE, DE DESSERT, A THÉ, A CAFÉ

**Dépôt — Avenue de l'Opéra, 17.**

(En Province) S'adresser à tous les bijoutiers

---

# ARROSAGE GÉNÉRAL DES PROPRIÉTÉS
## ET DES VILLES

J. MORET ET BROQUET, BROQUET * succr

**CONSTRUCTEURS**

BREVETÉS S. G. D. G.

**Usine à vapeur et Bureaux :**

121, RUE OBERKAMPF, PARIS

## NOUVELLE POMPE ROTATIVE

POUR L'ARROSAGE
DES PROPRIÉTÉS ET DES VILLES

(... re l'incendie, pour le Purin, pour le transvasement et le soutirage des Vins

*Projection : de* **18** *à* **35** *mètres;*

*Débit : de* **2,000** *à* **10,000** *litres par heure.*

Succès sans précédent, justifié par plus de 10,000 applications
et **80** récompenses. — **10 premiers prix en 1877.**

**Envoi franco du Prospectus.**

5 MÉDAILLES D'ARGENT. — EXPOSITION UNIVERSELLE 1878

MÉDAILLE D'OR DE L'ACADÉMIE NATIONALE DE FRANCE 1880

CHEVALIERS DE L'ORDRE ROYAL DU PORTUGAL 1881

# LIEUSE DE GERBES

## VERMOREL

Constructeur à Villefranche (Rhône)

**160 premiers prix et médailles.**

Tout le monde peut lier. *Rapidité* extraordinaire. Les mêmes liens servent indéfiniment. — *Économie* considérable. **Prix de la lieuse : 5 francs.**

*Envoi gratis et franco de la Notice et du Catalogue général illustré comprenant toutes les machines agricoles françaises et étrangères.*

---

# LA MALADIE DES CHIENS

**Guérie en 4 jours (terme moyen)**

15 ANS DE SUCCÈS

*Par le CYNOPHILE du Sport de Paris*

PUISSANT PRÉSERVATIF CONTRE LA RAGE

**E. GUESQUIN, Chimiste**

*112, rue du Cherche-Midi*

PARIS

DANS LES BONNES PHARMACIES ET CHEZ LES PRINCIPAUX ARMURIERS.

**PRIX du FLACON : 5 FR. On expédie par la poste**

*NOTA. — Tout flacon ne portant pas le cachet du Sport et l'adresse de la pharmacie, 2, rue Drouot, Paris, doit être refusé comme contrefaçon.*

---

# DE LA GALE

GUÉRISON IMMÉDIATE PAR UN SEUL LAVAGE AVEC

# L'EAU BEAUNIER

Ce liquide sulfureux ne se vend dans les pharmacies qu'en flacons accompagnés du mode d'emploi.

Paris. Dépôt Pharmacie Normale, 19, rue Drouot, et les Pharmacies

Envoi franco contre 3 fr. pour 1 flacon ; 2 flacons 5 fr.

S'adresser au préparateur BEAUNIER, Ph.-Chim., à Nogent-le-Rotrou.

---

Éviter les contrefaçons

# CHOCOLAT-MENIER

# VIN de VIAL

***Tonique Analeptique Reconstituant***

LE TONIQUE
le plus énergique que
doivent employer Convalescents,
Vieillards, Femmes
et Enfants débiles,
et toutes les Personnes délicates

***Au Quina Suc de Viande Phosphate de Chaux***

COMPOSÉ
des Substances
absolument indispensables
au développement
de la chair musculaire et des
Systèmes nerveux et osseux

Le **Vin de Vial** est l'heureuse association des Médicaments les plus actifs, pour combattre l'Anémie, la Chlorose, la Phthisie, la Dyspepsie, les Gastrites, Gastralgies, la Diarrhée atonique, l'Age critique, l'Étiolement, les longues Convalescences, etc.; en un mot, tous ces états de Langueur, d'Amaigrissement, d'Épuisement nerveux auxquels les tempéraments sont de nos jours trop fatalement prédisposés.

**LYON, pharmacie J. VIAL**
**rue de Bourbon, 14**
Et toutes les bonnes Pharmacies

TROIS MÉDAILLES

# COLLE CÉRAMIQUE

En flacons SIAMOIS (déposés)

**résiste au feu et à l'eau** et n'enlève pas la sonorité des pièces réparées

## MARGELIDON

38, *Boulevard Haussmann, Paris.*

**Envoi franco (embal. métallique) contre mandat-poste de 2 fr. 50.**

**Pris à la maison de commerce, 1 fr.**

*Sur demande, envoi franco du prospectus.*

---

MANUFACTURE DE GLACES, 9, rue de l'Échelle, PARIS.

Ticket N° 1521.

**BON** pr une **GLACE FORTE** encadrée,
Cadre à 2 coins arrondis,
Or fin et varié, 1m20 sur 0m72.
POUR **29** FRANCS

N° 1521.

Cette glace, d'une valeur réelle de **30 Fr.**, ne sera délivrée qu'au porteur de ce Bon. Fabrique LEVENS, 9, *rue de l'Échelle.*

---

SEUL ÉTABLISSEMENT HORTICOLE SPÉCIAL
**Pour la multiplication des Asperges d'Argenteuil**

## MAISON V. F. LEBEUF

## A. GODEFROY LEBEUF, Gendre et Successeur

**ARGENTEUIL (Seine-et-Oise)**

Asperges
Fraisiers
Arbres fruitiers
Plantes vivaces
Orchidées
Bibliothèque

Asperges
Fraisiers
Arbres fruitiers
Plantes vivaces
Orchidées
Bibliothèque

***Envoi des Catalogues franco sur demande.***

---

## AVIS AUX FRILEUX

**CALORIQUE RUSSE** du Célèbre **GLADSKOFF**
CHIMISTE RUSSE

Contre le **Froid aux pieds, aux mains, engelures et crevasses.**— Prix : la Boîte : **1 fr. 50** ; les trois, 4 fr.

*Expédie franco contre mandat-poste.* — **Mme Delebois,** 35, rue des Carbonnets, à Bois-Colombes (Seine). — *Dépôt, 11, Boulevard Voltaire, Paris.*

# VICES DU SANG

## DÉMANGEAISONS, BOUTONS, DARTRES

GUÉRISON CERTAINE PAR LES

## Pilules rafraîchissantes et dépuratives

# BEAUNIER

Paris. Dépôt Pharm. Normale, 19, rue Drouot, et les Pharmacies. — Envoi franco contre 4 fr. 20 pour 1 flacon ; 2 flacons, 7 fr. 75

S'adresser au préparateur BEAUNIER, Pharm.-Chim., à Nogent-le-Rotrou.

---

# GUÉRISON radicale des HERNIES

et maladies des femmes, rendant inutiles les Bandages et les Pessaires, par la méthode de **Pierre SIMON,** des Herbiers. (Voir la notice qui sera envoyée *franco* aux personnes qui en feront la demande par lettre affranchie.) Écrire à M. MIGNAL-SIMON, Médecin Bandagiste-Herniaire aux *Herbiers* (Vendée), gendre, successeur et seul élève de Pierre SIMON (*affranchir*).

---

# PLUS DE DOULEURS

*Aucune ne résiste à l'emploi du*

## TOPIQUE BERTRAND

Le seul dont la vente a été permise par arrêté de la Cour de Cassation du 8 juillet 1854. **INFAILLIBLE** contre les douleurs rhumatismales, fluxions de poitrine, toux rebelles, etc. — Prix : de **50** c. à **3** fr.

A LYON, chez l'inventeur, place Bellecour, 21 (franco par timbres).

**Dépôt chez MM. les Pharmaciens.**

---

**Rapport favorable de l'Académie de Médecine**

# VINAIGRE PENNES

## ANTISEPTIQUE, HYGIÉNIQUE

Guérit les affections parasitaires de la peau. Préserve des maladies contagieuses et épidemiques, en purifiant l'air chargé de miasmes et microbes. Il est précieux pour les soins intimes du corps, puisqu'il assainit et raffermit les muqueuses. — *Éviter les contrefaçons en exigeant Timbre de l'État.*

**Le flacon 2 fr. — Le litre 12 fr.**

Détail : r. des Écoles, 49, et toutes les Pharm. Gros : 2, r. Latran, Paris.

# DÉPILATOIRE

**Pour détruire les Poils, Duvets**
sur le visage, sur les bras et sur les jambes.
***Le seul qui soit inoffensif.*** Sécurité absolue
et d'un emploi facile. Flacon, ***12*** fr. et ***6*** fr.

**GUESQUIN, Pharmacien - Chimiste**
*112, Rue du Cherche-Midi, PARIS*
ON EXPÉDIE CONTRE MANDAT-POSTE

***Détail : Chez* GUYON, *Parfumeur***
**5, Rue du Quatre-Septembre, Paris**


# ÉCRIN MERVEILLEUX

On s'est toujours beaucoup occupé de l'article de Paris et de la fabrication parisienne, si intéressante à tous les points de vue. Aussi sommes-nous heureux de pouvoir offrir à nos lecteurs un magnifique spécimen de cette fabrication. — A dater d'aujourd'hui M. Nevel expédiera à titre de publicité, à toute personne qui lui en fera la demande UN ÉCRIN arg. finement ciselé, avec fermoir doré et chaînette.

CONTENANT .

*Une bague serpent en celluloïd all. à tous l. doigts.*
*Un collier doré, jaseron quadruple extra-fin.*
*Une montre dame, dor., doub. boîte av. clef cannel.*
*Une chaîne châtelaine, dorée,* 0 m. 85 *de tour.*
*Une croix Médicis ornée de* 48 *turquoises.*

Le tout rendu *franco* dans toute la Frauce :

**2 francs 10 centimes**

Tous ces objets sont d'un goût parfait et d'un cachet inimitable. C'est une occasion exceptionnelle dont il faut profiter, car l'*écrin seul* se vend au détail 2 fr. 50. Adresser lettres et mandat-poste à M. NEVEL, fab., brev.s.g.d.g., 25, av. Trudaine, Paris.

Flacon : 5 fr.

# PURETÉ DU TEINT

Flacon : 5 fr.

Faire usage du

## LAIT ANTÉPHÉLIQUE

étendu de 2 à 4 fois autant d'eau

Dépuratif, tonique, détersif, il dissipe Hâle, Rougeurs, Rides précoces, Rugosités, Boutons, Efflorescences, etc., conserve la peau du visage claire et unie. — A l'état pur, il enlève, on le sait, Masque et Taches de rousseur.

Il date de 1849

Paris, CANDÈS — B^l St-Denis, 28

Et chez les Parfumeurs et Coiffeurs

---

# MALADIES DES FEMMES
## ET STÉRILITÉ

M^me^ LACHAPELLE, maîtresse sage-femme, traitement sans repos ni régime des maladies des femmes, inflammations, suites de couches, ulcérations, déplacement des organes, causes fréquentes et souvent ignorées des stérilités, langueurs, palpitations, faiblesses, malaises nerveux, maigreur, etc. Les moyens employés par M^me^ LACHAPELLE sont le résultat de longues années d'études et d'observations pratiques dans le traitement *spécial de ces affections*. Consultations tous les jours, de 3 à 5 heures, rue du *Mont-Thabor*, 27 (près des Tuileries).

# EAU DES SIRÈNES

**La seule Eau inoffensive**, rendant aux cheveux et à la barbe leur couleur naturelle, *sans tacher la peau ni le linge.*

**E. GUESQUIN, pharmacien-chimiste**

*112, rue du Cherche-Midi, PARIS*

**Se trouve chez les principaux Pharmac., Parfum.-Coiffeurs**

LE FLACON **10** FR. ET **6** FR. *On expédie contre mand.-poste*

---

LA PLUS DIGESTIVE ET PURGATIVE DES EAUX MINÉRALES

# PULLNA (BOHÊME)

**Grands Prix : Philadelphie 1876, Paris 1878, Sidney 1879, Melbourne 1880, Londres (Congrès médical universel), 1880.**

**ANTOINE ULBRICH**

---

# LE DOCTEUR CHOFFÉ

Ex-médecin de marine, offre *gratuitement* à tous nos lecteurs son **Traité de Médecine pratique**, indiquant sa méthode (10 années de succès dans les hôpitaux) pour la **Guérison des Maladies chroniques de tous les Organes et des Hernies, Hémorrhoïdes, Goutte, Vessie, Phthisie, Cancer, Obésité, Asthme, Maladies des femmes, etc.** — *Écrire quai St-Michel, 27, Paris*

---

# BAIN DE PENNÈS

HYGIÉNIQUE, RECONSTITUANT STIMULANT,

remplace *en toutes saisons* les bains alcalins, ferrugineux, sulfureux, *surtout les bains de mer.* — **Le rouleau : 1 fr. 25.**

*Éviter les contrefaçons en exigeant le timbre de l'État sur le rouleau.*

Gros : 2, r. de Latran, Paris. Détail : 49, r. des Écoles, Pharmacies, Bains.

---

**PÊCHEURS, ATTENTION!!!**

## L'OLÉAGINE du Capitaine HOLTHONDO

**attire toutes sortes de poissons en mer comme en rivière.** Prix des flacons, 5 & 10 f.

*Expédition contre mandat-poste.*

Chez **LUNEAU**, 11, Boulevard Voltaire, PARIS — **Pas de Dépôt.**

***CAVALIERS AQUATIQUES,*** **se fixant sur Poissons vivants, à 2 fr. la pièce**

Demain, j'irai à l'*Union*. — Quoi faire, petit père? — T'assurer, mon enfant, afin que tu aies une belle dot.

# L'UNION

COMPAGNIE D'ASSURANCES SUR LA VIE HUMAINE

***15, Rue de la Banque, 15***

**A PARIS**

---

FONDÉE EN 1829

# HERNIES

## COMPLÉTEMENT GUÉRIES

PLUSIEURS RÉCOMPENSES (décorations, médailles, etc.) OBTENUES

Par **B. GLASER,** curateur herniaire alsacien, en France depuis l'annexion, où il est bien connu, ainsi qu'à l'étranger, par les cures merveilleuses qu'il a opérées sur des personnes de tout âge et de tout sexe, ayant été atteintes des hernies les plus graves et les plus anciennes, même celles réputées incurables.

*Traitement par correspondance.* — Brochure explicative, contenant des **preuves** incontestables, sera envoyée **franco** contre **1** franc. — Son heureuse découverte a pris une **telle extension.** que M. **Glaser** a dû s'agrandir à plusieurs reprises; c'est ce qui prouve la supériorité de sa méthode. — Actuellement et définitivement son adresse est à sa propriété, « Villa de la Providence », à Villemomble, Paris.

# PLUS DE TÊTES CHAUVES!

HAUTES RÉCOMPENSES. — **Traitement spécial** du cuir chevelu. — Arrêt immédiat de la chute des cheveux. Repousse certaine à tout âge (à forfait). AVIS AUX DAMES : Conservation et reconstitution de leur chevelure tombée à la suite de couches ou affections quelconques. Une dame attachée au cabinet consulte. Envoi de renseignements et preuves *gratis*. *On jugera.* — **F. MALLERON aîné,** Chimiste, 85, **r. de Rivoli. Paris.**

# GAZETTE DES CAMPAGNES

ORGANE POLITIQUE ET AGRICOLE DE LA FRANCE RURALE

ŒUVRE DE PROPAGANDE AGRICOLE ET CATHOLIQUE

*Paraît le Samedi*

**Quai des Grands-Augustins, 55, Paris**

52 NUMÉROS PAR AN. — ABONNEMENT D'UN AN : 12 FRANCS.


PARIS. — TYPOGRAPHIE DE E. PLON ET Cie, RUE GARANCIÈRE, 8.